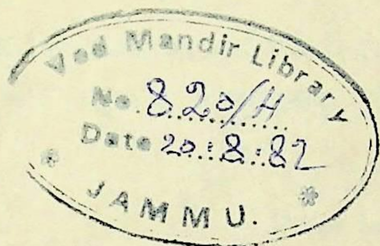
शून्य में है परमात्मा


Ved Mandir Library
No. 820/H
Date 20:8:82
JAMMU.

शून्य में है परमात्मा

(शून्यता की उच्च आध्यात्मिक स्थिति प्राप्त
कराने में सहायक साधनात्मक कृति)

※

लेखक :

डा० चमनलाल गौतम

रचयिता—पत्थर में भी है परमात्मा, प्रेम की उच्च साधना,
त्राटक से समाधि, त्राटक से आत्मसाक्षात्कार, ध्यान
की सरल साधनाएँ, ध्यान के गहरे प्रयोग, ध्यान
से चिन्ता निवारण, नाद योग आदि।

※

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान

ख्वाजा कुतुब (वेदनगर) बरेली—२४३००३ (उ०प्र०)

फोन नं० ४२४२

प्रकाशक :

डॉ० चमन लाल गौतम

संस्कृति संस्थान

ख्वाजा कुतुब (वेद नगर)

बरेली २४३००३ (उ० प्र०)

फोन : ४२४२



लेखक :

डॉ० चमनलाल गौतम





प्रथम संस्करण

सन् १९८१



मुद्रक .

शैलेन्द्र वी० माहेश्वरी

नवज्योति प्रेस,

सेठ भीकचन्द मार्ग, मथुरा



मूल्य :

पाँच रुपये मात्र ।

भूमिका

शून्य का अभिप्राय है—निर्विचार होना। मन का लय, समर्पण, त्याग और अलगाव ही शून्यता की स्थिति लाता है। वास्तव में मन ही दुःख, अज्ञान, संसान और कर्त्ता है। उसके शून्य होते ही दुःख गिरता है और ज्ञान प्रकट होता है, संसार छूटता है और आनन्द का उदय होता है। परमात्मा के दर्शन होते हैं। छोटा बच्चा जब तक मन से शून्य रहता है, तब तक वह बिलकुल निर्दोंश रहता है। अत: निर्दोंश बनने के लिये आवश्यक है कि मन से मुक्ति मिले. मन का साथ छूटे, मन की शून्यता हो, मन अमन होजाये तभी ऐसा शाश्वत यौवन अवतरित होगा जिसमें क्षय की कभी कोई सम्भावना नहीं होगी, तब ऐसे जीवन का निर्माण होगा जिससे सदैव ताजापन रहेगी। यही परमात्मा दर्शन है। यह परम सौभाग्य की घड़ी तभी आती है जब अनन्त जन्मों की स्मृतियों और सस्कारों के बोझ से दबे बूढ़े मन से छुटकारा मिले।

मन तभी घूटता है जब आत्मा और मन आमने सामने आ जाएँ। आत्मा और मन को आमने-सामने आने का एक ही उपाय है—ध्यान। मन ध्यान से भयभीत रहता है क्योंकि वह जानता है कि ध्यान काल का रूप ग्रहण करके उसके प्राण खींच लेगा और उसका अस्तित्व समाप्त हो जायगा। वास्तव में ध्यान ही मन की मृत्यु है। ध्यान साधक की तीसरी आँख है और यह तीसरी आँख ही मन के शक्तिशाली केन्द्र को भस्म करने की क्षमता रहती है। ध्यान जब परिपक्कु होता है तो उससे ऐसी प्रखर अग्नि उत्पन्न होती है जिसकी लपटों में मन का शरीर गलने लगता है। मन का मरना मिटना, खोना और समर्पण ध्यान से ही घटित होता है। तभी वह शून्य होता है। मन के शून्य होने पर ही परमात्मा प्रकट होता है।

—चमनलाल गौतम

विषय सूची



शून्य में है परमात्मा

अहं शून्यता ही सर्वत्याग है



परमात्मा कहाँ है ?

परमात्मा कहाँ है ? यह प्रश्न प्राय: किया ही जाता रहा है। वे विद्वान् भी जो जानते हैं कि परमात्मा सर्वत्र है, सर्व व्यापक है, उसके बिना कोई स्थान, कोई वस्तु नहीं है, कभी-कभी सोचने लगते हैं कि वस्तुत: वह है कहाँ ? यदि सर्वत्र है तो प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ?

और उनके प्रश्न का उत्तर किसी के पास नहीं, शायद उनके पास भी नहीं होता। क्योंकि जब सशय उत्पन्न हो जाता है, तब कोई भी उधर, कोई भी समाधान सन्तोषप्रद नहीं हो सकता। उस स्थिति में आन्तरिक विश्वास हिल उठता है और बहुत बार तो प्रत्यक्ष भी ऐसा ही लगता है जैसे कोई भ्रम हो। जैसे जो कुछ दिखाई देरहा है, वह आँखों का दोष हो।

आँखो का दोष बहुत बार बड़े चक्र में डाल देता है। किसी भी वस्तु को वह हमारे अनुकूल या प्रतिकूल दिखा सकता है। जैसी कि सी प्रिया से मिलना है रात के समय, पहुँचना है पिछवाड़े से, वह भी दूसरी

मञ्जिल पर और आप उत्कण्ठा पूर्वक वढ़े चले जाते हैं । दूसरी मंजिल पर पहुंचने के लिये कोई साधन चाहिये । आप देखते हैं कि एक रस्सी लटक रही है ऊपर से । पूरी तो नहीं है वह किन्तु खिड़की पर पाँव रख कर उस रस्सी के सहारे पहुंचा जा सकता है ऊपर । आप उसे देख कर प्रसन्न होते हैं और उसके सहारे ऊपर जा पहुँचते हैं । उस समय आपको यस अनुमान भी नहीं होता कि वह रस्सी नहीं सर्प है । उस पर भी मजा यह कि उस सर्प ने भी चढ़ जाने दिया आपको अपने सहारे से । किन्तु क्यों हुआ ऐसा ? यही आप अनुमान लगायें तो समझ लेंगे कि मन की उत्कण्ठा ने आपको तो भ्रमित किया । आपके मन की शक्ति ने उसे भी अपने अनुकूल बना लिया । वस्तुतः यह सर्प में रस्सी का भ्रम था ।

अब इसी के दूसरे पहलू पर ध्यान दीजिये—आप जा रहे हैं रात के समय, भय है कि कहीं कोई कोड़ा-काँटा न हो, जल्दी से पहुँचना चाहते हैं घर के भीतर । किन्तु आपकी चाल रुक जाती है, पाँव ठिठक जाते हैं । आप देखते हैं कि एक सर्प है मार्ग में, यदि इस पर पाँव पड़ जाता है ? तो वह काट सकता था और काट लेता तो शायद प्राणों पर आ बनती ।

वह सर्प आपके घर के द्वार पर ही है, इसलिये आप डरते हैं कि कहीं यह भीतर न घुस जाय । आप प्रकाश लाकर देखते हैं कि वह सर्प नहीं रस्सी है । आपके भय ने ही उसे सर्प बना दिया था । अब इसे आप क्या कहेंगे ? रस्सी में सर्प का भ्रम या कुछ और ?

इसी प्रकार और भी अनेक प्रकार के भ्रम दिखाई दे सकते हैं आपको । उन्हीं भ्रमों से भ्रमित हुए आप संशय में पड़ जाते हैं और जब संशय उत्पन्न हो जाता है तो दूर होने को ही नहीं आता । उसका विस्तार होता रहता है द्रौपदी के चीर की तरह । उसकी वृद्धि होती रहती है सुरसा के मुख के समान । और वह विस्तार, वह वृद्धि आपके

मस्तिष्क को स्वच्छ नहीं होने देती, जिससे आप अपना हित-अहित सोचने में भी समर्थ नहीं हो पाते। 'संशयात्मा विनश्यति' इसीलिए कहा है। अर्थात् आप संशय ग्रस्त होते हैं तो उसी में पड़े रहते हैं। हो सकता है कि वह संशय जीवन भर बना ही रहे।

और यह एक तथ्य है कि संशय के कारण आत्मा की सिद्धि नहीं हो पाती। संशय है तो आप सोचेंगे कि आत्मा तो दिखाई नहीं देता, जब कि यह शरीर प्रत्यक्ष दिखाई देता है। हम इसी के द्वारा चलते-फिरते, खाते-पीते या सोते-बैठते हैं। इसका रूप, इसका कर्म आदि सब कुछ प्रत्यक्ष है, तब शरीर ही सत्य क्यों नहीं ?

फिर आपका यही तर्क परमात्मा के विषय में होता है। आप समझते हैं कि न आत्मा दिखाई देता है, न परमात्मा, तब परमात्मा की भी सिद्धि कैसे हो ? और जिसकी सिद्धि किसी प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं होती, उसके विषय में कैसे कहा जा सकता है कि वह है अथवा नहीं ?

इस प्रकार के तर्क-वितर्क इसी युग की देन हों, ऐसी बात नहीं है। मनुष्य न जाने कब से इन पर विचार करता रहा है। शायद आपको विदित हो कि हमारे प्राचीन विचारकों ने इस विषयमें बहुत कुछ कहा है। छः विभिन्न ऋषियों ने छः दर्शनों की रचना इसी उद्देश्य से की कि निश्चय हो सके इस तथ्य का कि आत्मा और परमात्मा की स्थिति क्या है ? छओं ने अपने-अपने विचारों का या तो विरोध किया अथवा मौन रहे।

किन्तु, किसी समस्या का समाधान न तो विरोध में है, न मौन में ही है। इससे तो उलझन और बढ़ती ही है। क्योंकि विरोध में बोलने वाला अपनी उतनी पुष्टि नहीं कर पाता, जितना दूसरे का विरोध कर बैठता है। आप किसी मत को नहीं मानते तो यह आवश्यक नहीं कि उसका विरोध ही करें। वरन् आवश्यक यह है कि आप जो कुछ भी कहें अपने विचार कहें। आपके अपने विचार तथ्य पूर्ण होंगे तो दूसरे

मञ्जिल पर और आप उत्कण्ठा पूर्वक बढ़े चले जाते हैं। दूसरी मंजिल पर पहुंचने के लिये कोई साधन चाहिये। आप देखते हैं कि एक रस्सी लटक रही है ऊपर से। पूरी तो नहीं है वह किन्तु खिड़की पर पाँव रख कर उस रस्सी के सहारे पहुंचा जा सकता है ऊपर। आप उसे देख कर प्रसन्न होते हैं और उसके सहारे ऊपर जा पहुँचते हैं। उस समय आपको यस अनुमान भी नहीं होता कि वह रस्सी नहीं सर्प है। उस पर भी मजा यह कि उस सर्प ने भी चढ़ जाने दिया आपको अपने सहारे से। किन्तु क्यों हुआ ऐसा ? यही आप अनुमान लगायें तो समझ लेंगे कि मन की उत्कण्ठा ने आपको तो भ्रमित किया। आपके मन की शक्ति ने उसे भी अपने अनुकूल बना लिया। वस्तुतः यह सर्प में रस्सी का भ्रम था।

अब इसी के दूसरे पहलू पर ध्यान दीजिये—आप जारहे हैं रात के समय, भय है कि कहीं कोई कोड़ा-काँटा न हो, जल्दी से पहुँचना चाहते हैं घर के भीतर। किन्तु आपकी चाल रुक जाती है, पाँव ठिठक जाते हैं। आप देखते हैं कि एक सर्प है मार्ग में, यदि इस पर पाँव पड़ जाता है ? तो वह काट सकता था और काट लेता तो शायद प्राणों पर आ बनती।

वह सर्प आपके घर के द्वार पर ही है, इसलिये आप डरते हैं कि कहीं यह भीतर न घुस जाय। आप प्रकाश लाकर देखते हैं कि वह सर्प नहीं रस्सी है। आपके भय ने ही उसे सर्प बना दिया था। अब इसे आप क्या कहेंगे ? रस्सी में सर्प का भ्रम या कुछ और ?

इसी प्रकार और भी अनेक प्रकार के भ्रम दिखाई दे सकते हैं आपको। उन्हीं भ्रमों से भ्रमिम हुए आप संशय में पड़ जाते हैं और जब संशय उत्पन्न हो जाता है तो दूर होने को ही नहीं आता। उसका विस्तार होता रहता है द्रौपदी के चीर की तरह। उसकी वृद्धि होती रहती है सुरसा के मुख के समान। और वह विस्तार, वह वृद्धि आपके

मस्तिष्क को स्वच्छ नहीं होने देती, जिससे आप अपना हित-अहित सोचने में भी समर्थ नहीं हो पाते। 'संशयात्मा विनश्यति' इसीलिए कहा है। अर्थात् आप संशय ग्रस्त होते हैं तो उसी में पड़े रहते हैं। हो सकता है कि वह संशय जीवन भर बना ही रहे।

और यह एक तथ्य है कि संशय के कारण आत्मा की सिद्धि नहीं हो पाती। संशय है तो आप सोचेंगे कि आत्मा तो दिखाई नहीं देता, जब कि यह शरीर प्रत्यक्ष दिखाई देता है। हम इसी के द्वारा चलते-फिरते, खाते-पीते या सोते-बैठते हैं। इसका रूप, इसका कर्म आदि सब कुछ प्रत्यक्ष है, तब शरीर ही सत्य क्यों नहीं?

फिर आपका यही तर्क परमात्मा के विषय में होता है। आप समझते हैं कि न आत्मा दिखाई देता है, न परमात्मा, तब परमात्मा की भी सिद्धि कैसे हो? और जिसकी सिद्धि किसी प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं होती, उसके विषय में कैसे कहा जा सकता है कि वह है अथवा नहीं?

इस प्रकार के तर्क-वितर्क इसी युग की देन हों, ऐसी बात नहीं है। मनुष्य न जाने कब से इन पर विचार करता रहा है। शायद आपको विदित हो कि हमारे प्राचीन विचारकों ने इस विषयमें बहुत कुछ कहा है। छः विभिन्न ऋषियों ने छः दर्शनों की रचना इसी उद्देश्य से की कि निश्चय हो सके इस तथ्य का कि आत्मा और परमात्मा की स्थिति क्या है? छओं ने अपने-अपने विचारों का या तो विरोध किया अथवा मौन रहे।

किन्तु, किसी समस्या का समाधान न तो विरोध में है, न मौन में ही है। इससे तो उलझन और बढ़ती ही है। क्योंकि विरोध में बोलने वाला अपनी उतनी पुष्टि नहीं कर पाता, जितना दूसरे का विरोध कर बैठता है। आप किसी मत को नहीं मानते तो यह आवश्यक नहीं कि उसका विरोध ही करें। वरन् आवश्यक यह है कि आप जो कुछ भी कहें अपने विचार कहें। आपके अपने विचार तथ्य पूर्ण होंगे तो दूसरे

का विरोध प्रकट न करने पर भी उसका विरोध स्वतः सिद्ध हो जायगा। यदि इस सिद्धान्त का पालन किया होता उन विचारकों ने, उन तार्किकों ने, तो शायद मानव-समाज को आज तक बहुत कुछ उपलब्ध हो गया होता और अभी तक जो समस्या सुलझने में नहीं आरही है, वह न जानें कब की सुलझ गई होती।

विरोध न करो किसी का। यदि आपका मत नहीं मिलता उससे तो न मिले। आप चिन्ता न करें उसकी, किन्तु अपनी बात पर दृढ़ रहें। दृढ़ता से समझायें लोगों को। हो सकता है कि आप समझायें तो आपको ही उनके विरोध का सामना करना पड़े। आप उस विरोध से भी विचलित न हों। यदि ऐसा कर सके आप तो एक दिन विरोधी भी आपका हो सकता है।

किन्तु इसके लिये आपको विनम्र होना होगा। महात्मा गाँधी ने जो अहिंसात्मक आन्दोलन चलाया था, उसमें उन्होंने विनम्रता से ही काम लिया था। इसीलिये कुछ लोगों ने उसे सविनय अवज्ञा कहा था। महात्मा गाँधी पर जब एक गोरे ने प्रहार किया था, तब उन्होंने एक गाल पर चाँटा लगने पर दूसरा गाल उसके आगे कर दिया और बोले—'इस पर भी मारो।' वह गोरा स्वयं लज्जित हो गया।

बुद्ध का एक शिष्य था पूर्ण, उसे बुद्ध कृपा से पूर्ण शान्ति उपलब्ध हो गई थी। उसे बुद्ध का सन्देश घर-घर पहुँचाने का काम सौंपा गया। बुद्ध ने पूछा—'कहाँ जाओगे पहिले?' उसने एक स्थान बताया तो बुद्ध ने सावधान किया कि वहाँ के लोग बड़े कठोर हैं, इसलिये तुम्हें अपमान का सामना करना पड़ सकता है। यह भी सम्भव है कि कोई मार-पीट ही कर बैठे। अच्छा हो कि तुम कोई अन्य स्थान चुनो।'

पूर्ण ने निवेदन किया—'अपमान से कुछ हानि नहीं होगी मेरी। कोई गाली देता है दे, मार-पीट करे तो करे, इसका मेरी आत्मा पर तो कोई प्रभाव पड़ेगा नहीं। जब इस परिस्थिति में विनम्र रह सकूँगा तभी

आपका सन्देश दे सकूँगा सभी को।'

बुद्ध ने कहा—'यदि ऐसा है तो तुम्हारे लिये मार्ग-निर्देश की आवश्यकता नहीं। क्योंकि तुमने तो स्वयं ही अपना मार्ग बदल लिया है। अब तुम्हारा अपमान कोई नहीं कर सकता। क्योंकि किसी की भी अपमान जनक क्रिया का प्रभाव तुम पर नहीं पड़ेगा।'

और बुद्ध का यह कहना उस शिष्य के लिये था, जो उन्हीं के उपदेशों को हृदयंगम करके अपने मार्ग को बदल सका था। वस्तुतः यह मार्ग-परिवर्तन नहीं, हृदय परिवर्तन था। कोई गाली दे आपको और आप उसे नम्रता पूर्वक सहन कर लें। कोई मारे तो पिट लें। सामान्य अवस्था में यह आपके अहंकार पर चोट है। किन्तु यदि आपने अहंकार से मुक्ति प्राप्त कर ली हो तो निश्चय ही आपको उस चोट का अनुभव नहीं हो सकता। यह अहंकार ही है जो आपको एक अनिश्चित दिशा की ओर घसीट कर लिये जारहा है। आप नहीं जानते कि उस दिशा में कहाँ, क्या है ? अहंकार कहता है कि मैं जिधर ले जा रहा हूँ उसके समान तो कहीं भी कुछ नहीं है। आप भी विवश हैं उसके संकेत पर चलने के लिये। उसी प्रकार, जैसे कोई अपहरणकारी किसी को संकेत मात्र पर ही अपने साथ चलने को विवश कर ले।

यह अहंकार प्राप्त पुण्य को भी नष्ट कर डालता है। राजा ययाती का एक वृत्तान्त मिलता है कि उन्हें अपने पुण्य कर्मों के कारण स्वर्ग की प्राप्ति हुई थी। वे वहाँ बहुत समय रहे और वहीं उन्हें यह अहंकार हो गया कि 'मैंने बड़े पुण्य किये हैं मेरे समान कोई धर्मात्मा राजा हुआ ही नहीं।' किन्तु इस अहंकार के फल स्वरूप ही उन्हें स्वर्ग से नीचे धकेल दिया गया।

वहीं भूतल पर राजा के चार निरभिमानी और तपस्वी दौहित्र तपस्या कर रहे थे, जिन्होंने महर्षि गालव के साथ ही अपनी-अपनी तपस्या का पुण्य राजा को दिया, जिससे वे पुनः स्वर्ग में जा पहुँचे।

वहाँ उन्होंने ब्रह्मा जी से पूछा कि 'प्रभो ! मुझे स्वर्ग से क्यों गिरा दिया गया था ?' ब्रह्मा जी ने कहा—'राजन ! तुम्हारे अहंकार ने समस्त पुण्य फल नष्ट कर दिया था। इसलिए तुम्हें स्वर्ग से गिरना पड़ा था।'

इसलिये आवश्यक है इस अहंकार का त्याग। जब तक यह रहेगा, आपको इसी के संकेत पर चयना होगा। किन्तु कठिनाई यह है कि आप यह जान ही नहीं पाते कि अहंकार के संकेत पर चल रहे हैं। आप घर में रहते हैं। पत्नी, पुत्र, बान्धव आदि हैं तो उनसे सम्पर्क रखेंगे ही और जब सम्पर्क रखेंगे तब 'यह मैं हूं' अथवा 'यह तू है' ऐसा आभास भी होगा ही। आप कहेंगे कि यह तो स्वाभाविक है। पत्नी है तो समझना ही होगा कि मेरी है। पुत्र के प्रति भी ऐसी ही भावना रहेगी और यह भी कहना होगा पत्नी या पुत्र से कि 'तू' है। क्योंकि पत्नी है, उसे व्यावहारिक दृष्टि से 'तू' के स्थान पर 'मैं' मान भी कैसे लें ?

और जब मनुष्य इस प्रकार सोचता है तभी अहंकार दृढ़ होता जाता है और कसता जाता है अपने बन्धन में। संसार में चार मनोविकार प्रसिद्ध हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह। इन चारों की सृष्टि अहंकार ने ही की है। आपका अहंकार ही आपको समझाता है कि यह स्त्री है, भोग्या है, इस पर मेरा अधिकार है। और आपके इस अधिकार को कोई चुनौती देता है तो आपको क्रोध आ घेरेगा। क्योंकि क्रोध की उत्पत्ति चुनौती के अस्वीकार करने पर ही होती है। क्रोध का कार्य है वह अपने से विपरीत अस्तित्व को बल पूर्वक नकारने में सहायता करे। यह आवश्यक नहीं कि क्रोध की उत्पत्ति तभी हो जब आप उसे उत्पन्न करना चाहें, वरन् यह आपकी नकारात्मक प्रवृत्ति को देख कर स्वतः उद्‌भूत हो जाता है।

क्रोध की करामात–

क्रोध आता है तो हिंसा को भी साथ लाता है। यह बात दूसरी है

कि आप इतने सजग रहें क्रोधावस्था में कि हिंसा न करें, अन्यथा क्रोध ने तो उसकी पूरी व्यवस्था की ही हुई है। बहुत बार वह आपको होश में नहीं रहने देता और आप उसकी कठपुतली बनने के लिये विवश हो जाते हैं। इसीलिये क्रोध के कारण हत्याएँ भी हो जाती हैं। महाभारत युद्ध का तो श्री गणेश ही क्रोध ने किया था।

विश्व में जितने भी छोटे-बड़े युद्ध हुए हैं, सभी में क्रोध की ही करामात रही है। युद्धों में सब से बड़ा ह्रास हुआ है क्रोध के कारण ही। स्त्री-पुत्र आज्ञाकारी नहीं तो क्रोध आना ही ठहरा और जब क्रोध आ जाता है तब राजा-रंक का भेद भी नहीं रहने देता।

क्रोध ही शत्रुता का मुख्य कारण है। आप जिस पर क्रोध करते हैं, उसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में विद्वेषी बना लेते हैं। बहुत बार सामान्य-से विद्वेष का परिणाम ही भयंकर हो जाता है। बहुत बार जब क्रोध का परिणाम सामने आता है तब मनुष्य को स्वयं की ही उस मूर्खता पर खेद होने लगता है।

काम और क्रोध, प्रथम तो यह दो ही बलवान हैं, किन्तु उस समय यह और भी प्रबल हो उठते हैं, जब इनके साथ लोभ और मोह भी आ मिलते हैं। लोभ का अभिप्राय उस संचय से है जो अनावश्यक रूप से किया जाता है। लोग धन का संचय करते हैं, खाद्य-सामग्री का करते हैं, जीवनोपयोगी अन्य वस्तुओं का भी करते हैं। किन्तु इनमें धन का संचय तो लौकिक दृष्टि से कुछ उपयोगी हो भी सकता है. पर खाद्य-सामग्री तो कभी-कभी सड़, गल भी जाती है। उससे दूसरों के अधिकार की भी हानि होती है। जिस खाद्य की दूसरों को अपेक्षा थी, उसे आपने संचित कर लिया तो उनके लिये हो सकता है कि अभाव हो जाय और अनुपलब्ध हो जाँय वे वस्तुएँ। इसीलिये वेद कहता है कि 'हमें उन लोगों की वस्तुएँ छीन कर दो, जो उनके पास निरर्थक हैं, जिनका उन्होंने व्यर्थ हीं संचय किया हुआ है।' आज-कल वेद के इसी अभिप्राय

को साम्यवादी विचारधारा कहा जाता है।

लोभी मनुष्य नहो मानता इन विचारों को। वह समझता है कि यदि में कुछ एकत्रित करता हूँ तो अपने पैसे से, इसमें दूसरों का क्या जाता है ? और यह कितना बड़ा अहंकार है उसका ? दूसरे के महत्व अथवा अधिकार को न समझ कर अपने को ठीक मानने से वढ़ कर और कौन-सा अहं हो सकता है ?

और मोह ? यह पत्नी है, यह पुत्र है, यह भाई है, सभी मेरे अधीन हैं, सभी आश्रित हैं, इनका पालक मैं ही हूँ। यदि मैं कहीं चला जाऊँ तो इनका कार्य कैसे चलेगा ? कैसे जीवन-यापन करेंगे यह ? मनुष्य जीवन भर यही सोचता है, उसे मरते समय भी चैन नहीं मिलता। पत्नी, पुत्रादि ही उसे विमोहित करते हैं। कहते हैं कि आपके पीछे हमारा क्या होगा ? मजे की बात यह है कि वृद्धावस्था में वहुतों की पूछ नहीं होती। पत्नी, पुत्र, बन्धु आदि ही उपेक्षा करते हैं। अनेक तो अपने जीवन भर उनकी ओर से कष्ट पाते रह कर भी मरते समय मोह जाल में फँस जाते हैं।

किन्तु, आप मोह जाल के कारण यह भी नहीं समझ पाते कि अब यहाँ से जा रहे हैं तो इस परिवार से कोई सम्बन्ध रहने वाला नहीं है। न यह पत्नी पत्नी रहेगी, न यह पुत्र पुत्र रहेगा। पता नहीं अगले जन्म में भी कभी किसी से भेट होगी या नहीं ? और हुई तो भी यह सम्भव नहीं कि उन्हें पहिचाना जा सके। क्योंकि जब मनुष्य को अपने ही विषय में कुछ ज्ञान नहीं रहता तब किसी अन्य के विशय में कैसे जान सकता है वह ?

प्राचीन आचार्यों का कहना है कि माया भ्रमित करती है। माया कहने से उनका अभिप्राय यही है कि आप काम-वासना में भ्रमित हो रहे हैं। समझते हैं कि यह आवश्यक है। आवश्यक हो भी सकती है शरीर के लिये, किन्तु आत्मा के लिये उसका कोई महत्व नहीं है। यदि

आप वासना को आवश्यक मानते हैं तो अवश्य ही माया में पड़े हैं।

आप क्रोध करते हैं, यह मान कर कि क्रोध के बिना काम नहीं चल सकता। किसी को अपने रौब में रखना है तो उस पर क्रोध प्रदर्शित करो। उसे भयभीय करो क्रोध से, चाहे वह आवश्यक हों या अनावश्यक। जो लोग मायावी होते हैं, वे क्रोंध अधिक कग्ते हैं, ऐसीं मान्यता रही है। प्राचीन काल में जो जाति दनुज कहलाती थी; वह स्वभाव से क्रोधी थी। वह हिंसा में विश्वास रखने के कारण ही अधिक क्रूर थी। किन्तु सात्विकी प्रवृत्ति के मनुष्य उनके उस स्वभाव को अहितकर ही मानते थे।

क्यों मानते थे क्रोध को अहितकर ? क्योंकि क्रोध ने निध्वंस की प्रवृत्ति उत्पन्न की है, निर्माण की नहीं। उसने तोड़ना सिखाया है जोड़ना नहीं। मनुष्य ने शायद कभी यह समझा भी नहीं कि उसे तोडने में नहीं, जोड़ने में सिद्धहस्त होना चाहिये।

क्रोध हिंसक है, किसी को भी भड़कन कर उससे हत्या करा सकता है। उसकी सामर्थ्य नहीं जो किसी को जीवन दे सके। आज विश्व में आवाज उठ रही है कि फाँसी का दण्ड समाप्त किया जाय। क्योंकि आप फाँसी दे सकते हैं, किन्तु किसी मरे हुए को जीवित नहीं कर सकते। यदि आप किसी को जीवन नहीं दे सकते तो फिर मारने का अधिकार भी कैसे रखते हैं।

क्रोध तोड़ना जानता है–

एक बार एक हत्यारा आया था बुद्ध को मारने के लिये। वह बुद्ध से इसलिये अप्रसन्न था कि वे अहिंसा-धर्म का प्रचार करते थे, जिसके पक्ष में वह नहीं था। उसने सोचा कि बुद्ध को मार डालूँ तो अहिंसा-धर्म का झंझट ही समाप्त हो जाय। इसीलिये उसने बुद्ध को मारने का निश्चय किया।

किन्तु वह व्यक्ति कायर नहीं समझता था अपने को, इसलिये साव-धान करता हुआ बोला कि 'सँभल जाओ, में तुम्हें मारने के लिये आया हूँ। बुद्ध बोले—'स्वागत हैं, तुम्हारा, अवश्य मारो, किन्तु पहिले मेरे दो काम कर दो, उसके बाद मार डालना।' उसने पूछा—'बताओ काम, उचित होगा तो कर दूँगा। किन्तु ध्यान रहे धोखा मत देना मुझे, अन्यथा ठीक न होगा।'

बुद्ध ने कहा—'नहीं भाई ; धोखा नहीं देता। बस काम भी बहुत ही छोटे-से हैं, बात की बात में पूरे हो जाँयगे।' वह बोला—'तब तो कर ही दूँगा। तुम मर रहे हो, इसलिये भी तुम्हारी अन्तिम इच्छा पूरी करना उचित ही होगा।'

इस पर बुद्ध ने सामने के एक वृक्ष की ओर संकेत किया—'उस वृक्ष की केवल एक डाल चाहिये मुझे, वह लकार दे दो।' उसने अपनी तलवार से ही डाल काटी और बुद्ध के हाथ में देता हुआ बोला—'यह लो।' बुद्ध ने प्रसन्नता व्यक्त की—'शावास ! तुमने मेरा एक कार्य पूरा कर दिया इसके लिये धन्यवाद। किन्तु अभी दूसरा कार्य और शेष है।'

वह तीखे स्वर में बोला—'हाँ, शीघ्र कह डालो उसे भी। समझलो अब अधिक समय नहीं है मेरे पास।'

बुद्ध बोले—'में भी अधिक समय नहीं लेना चाहता तुम्हारा। बस इतना काम और करो कि इस डाल को जहाँ से लाये थे, वही जोड़ जाओ। इसके बाद तो मुझे मार डालना ही शेष रह जायगा।'

उसने कहा—'पागल हुए हो, वृक्ष की डाल तोड़ी तो जा सकती है, किन्तु उस पर लगाई नहीं जा सकती। मैं क्या अब इसे कोई भी वहाँ नहीं जोड़ सकता।'

बुद्ध ने कहा—'तब तुम कैसे शूरवीर हो भाई। तोड़ तो इसे कोई भी सकता था, यदि तुमने तोड़ा तो क्या विशेषता की ? वीरता तो तभी हो सकती है जब इसे जोड़ दो। क्रोध ने तोड़ना-काटना तो सिखा दिया

तुम्हें, किन्तु जोड़ना, बनाना नहीं सिखाया। और क्रोध सिखा भी नहीं सकता जोड़ना-बनाना।'

वह कुछ विचार करके बोला—'कैसी अजीव बात कह दी तुमने ? मुझे आज तक यह ख्याल नहीं था कि तोड़ने में कोई विशेषता नहीं, तोड़ तो कोई भी सकता है। यदि विशेषता है तो जोड़ने में ही, और में इस में असमर्थ हूँ, पूर्ण रूप से असमर्थं।

उसने बुद्ध के चरण पकड़ लिये। अब वह बुद्ध का अनुयायी था। उसकी समझ में आ गया था कि मुझे किसी की हत्या करने का कोई अधिकार नहीं है। उस दिन से उसने क्रोध करना छोड़ दिया।

और आप जब तक जोड़ना नहीं जानते तब तक अपने उत्थान की ओर नहीं बढ़ सकते। क्योंकि तोड़ने वाला न आत्मा को जानता हैं, न परमात्मा को। मनुष्य जब तक विध्वंश में रुचि लेता रहेगा, तब तक परमात्मा में उसकी अभिरुचि हो ही नहीं सकती।

विध्वंश की अभिरुचि सत्य से परे धकेलती है। जहाँ ध्वंस है वहाँ प्रेम नहीं हो सकता, शान्ति भी नहीं ही सकती। शान्ति और प्रेम दोनों का अभिन्न जैसा सम्बन्ध है, किन्तु वह दोनों विध्वंश के विरोधी हैं। इसलिये सृजन के साथ रहते हैं। जो लोग सृजन में विश्वास करते हैं। उनके लिये प्रेम ही सर्वोपरि है और वे ही आत्मा को जानने वाले हो सकते हैं। परमात्मा सम्बन्धी ज्ञान भी उन्हीं के लिये सुलभ हो सकता है।

विध्वंस के साथ क्रोध है, यह मनुष्य को अपने प्रभाव में लाता है तो उसे कुछ भी नहीं रहने देता। वस उसे उतना ही याद रहता है कि मेरे आदेश का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता और करे तो मुझ से बच नहीं सकता। उसे भ्रम रहता है कि मैं चाहें जिसे मार सकता हूँ। जब तक कोई ऐसा नहीं मिलता कि उसे अपने वश में कर ले, तब तक उसे माया भी भ्रमित करती रहती है।

आप लोभ करते हैं तो भी माया में पड़े हैं। कुछ लोगों ने तो धन को ही माया कहा है। क्योंकि धन के कारण मनुष्य मदोन्मत्त हो जाता है। अधिक धन हो तो वह किसी को भी नहीं समझता। यहाँ तक कि परमात्मा भी उसके लिये महत्वपूर्ण नहीं होता।

और मोह तो सब से बड़ी माया है। सांसारिक बन्धनों को अधिक दृढ़ करता है तो यह मोह ही। वैसे काम, क्रोध, लोभ, मोह चारों ही बन्धन की प्राप्ति में सहायक होते हैं। किन्तु इन चारों का अस्तित्व बनाया है अहंकार ने ही। यदि अहंकार न रहे तो काम क्रोधादि का रहना भी असंभव ही होगा।

त्याग का भ्रम–

मनुष्य के लिये अहंकार ही बहुत बड़ी बाधा है। योग वासिष्ठ नामक ग्रन्थ में एक उपाख्यान मिलता है राजा शिखिध्वज और उनकी पत्नी का ! राजा-रानी दोनों ही विज्ञ थे, सदाचारी तथा धर्मनिष्ठ थे। राजा के मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया और वे सब कुछ छोड़ कर वन में चले गये।

रानी समझती थी कि राजा का त्याग भ्रमात्मक है। वह अपने पति को यथार्थ यथ्य समझना चाहती थी, इसलिये वह देवपुत्र का भेष बना कर उनके पास गई। कुछ समय बाद उनका विश्वास अर्जित होने पर चूडाला ने उनसे प्रश्न किया—'महाराज ; आपकी पत्नी विदुषी थी, आपने उसके उपदेश पर ध्यान न देकर घर क्यों छोड़ दिया ? यदि घर छोड़ा तो सर्वत्याग क्यों नहीं किया ?'

राजा बोले—'देवपुत्र ! क्या मुझसे भी बड़ा त्यागी कोई हो सकता है ? देखो, मैंने अपना घर, पत्नी, राजपद आदि सभी का त्याग कर दिया, फिर भी तुम कहते हो कि सर्व त्याग नहीं किया।'

छद्‌मभेष धारिणी रानी ने कहा—'महाराज ! घर, राज्य, पत्नी,

आदि कुछ भी तो आपका नहीं है, उन्हें छोड़ देने से सर्वत्याग कहाँ से हो गया? जो वस्तु अपनी नहीं, उसका त्याग ही कैसा?'

राजा ने कहा—'अच्छा, वह मेरा नहीं था तो यह पर्वत और वनादि तो मेरा है, इसे भी छोड़े देता हूँ।' उसने कहा कि 'यह भी नहीं हैं। आपके। इनके त्याग की बात कहना ही व्यर्थ है।'

राजा बोले—'अच्छा तो यह शरीर तो मेरा है, इसे भी छोड़े देता हूं।' यह कह कर राजा अपने सामने वाली खाई में कूद कर मरने के विचार से उधर बढ़े तो चूडाला ने कहा—'यह शरीर तो निरपराध है राजन्! इसे क्यों नष्ट करते हैं? नष्ट करना है तो उसे कीजिये जो सर्वगत और सर्व त्याज्य है। यदि आप उसका त्याग कर दें तो ही सर्व त्याग सम्पन्न हो सकता है।'

राजा की समझ में नहीं आ रहा था कि वह वस्तु कौन-सी है। उन्होंने पूछा—'देव पुत्र! शीघ्र बताओ उस वस्तु के विषय में, जिससे मैं उसका त्याग कर सकूँ।'

चूडाला ने कहा—'महाराज! वह है अहंकार, चित्त और मन भी उसी के अन्तर्गत हैं। आप इस अहंकार चतुष्टय का त्याग कर दीजिये, यही सर्वगत और सर्व त्याज्य है।

बात राजा की समझ में आगई। वे समझ गये कि गृह त्याग व्यर्थ है, राज्य त्याग का भी कोई महत्व नहीं और पत्नी के त्याग से भी कुछ अन्तर पड़ने वाला नहीं है। इसलिये वह चूडाला के साथ घर लौट गये; क्योंकि उन्होंने चित्त रूपी सर्वगत का पूर्ण त्याग कर दिया था।

एक बार एक राजा ने किसी सन्त से निवेदन किया—'महाराज! मैंने बहुत-से मन्दिर, धर्मशाला, वाणी, कूप आदि बनवा दिये, अनेकों बड़ी-बड़ी दक्षिणा वाले यज्ञ कर डालें, लाखों ब्राह्मणों, सन्यासियों भिखारियों को अन्न-वस्त्र दान दिये। अभी भी मेरे यहाँ खैरात-खाना दिन-रात खुला रहता है। मेरे इन कर्मों का क्या फल मिलेगा मुझे?'

संन्यासी ने उत्तर दिया—'राजन् ! तुमने इससे अपने मन की गाँठों को अधिक कड़ा कर लिया है। तुम उसी फल के भागी हो जो गाँठ कड़ी होने पर मिलना चाहिये।'

राजा बोले—'गाँठ कड़ी होने से क्या अभिप्राय है संन्यासी महाराज ! कुछ स्पष्ट कहें।'

उन्होंने कहा—'अरे भाई, याद रखने के लिये गाँठ लगाते हैं न पटका के छोर में ? तुम अपने किये हुए कर्मों की याद सँजोये हुए हो, इसलिये वे बन्धन रूप बनते जा रहे हैं तुम्हारे लिये। यह बन्धन जितने जितने अधिक कड़ें होंगे, उतना ही अहित होगा तुम्हारा।

राजा मानों नीचे से ऊपर गिर गये। बोले—'तब क्या मेरे सभी कार्य निरर्थक हो गये ? यदि ऐसा है तो मुझे बताइये कि अब ऐसा क्या करूँ जिससे हित साधन हो सके।'

संन्यासी बोले—'जो किया है उसे भूल जाओ। इससे तुम्हारा अहंकार दुर्बल होने लगेगा। किसी भी कार्य के फल की इच्छा न करो तो भी अहंकार को दृढ़ होने में सहायता न मिलेगी। यह अहंकार ही गांठों को दृढ़ करने में एक प्रबल कारण है। इसका त्याग करते हुए जो भी कर्म करोगे समर्पण भाव से वे सभी हित साधन करने वाले सिद्ध होंगे।



धर्म दुःख नाश का ब्रह्मास्त्र है

अपनी दृष्टि, अपना अर्थ—

जो किया है उसका स्मरण न रहना ही श्रेयस्कार है आप जितनां ही अधिक सोचेंगे अपने कृत कर्मों को उतना ही अधिक अहंकार उत्पन्न होने लगेगा। कृत कर्मों की याद अहंकार ही नहीं बढ़ाती, वासना को

भी जाग्रत् कर सकती है। उससे काम, क्रोधादि की भी वृद्धि हो सकती है। क्योंकि अतीत जब जाग्रत् होता है तब मन को अपनी ओर खींचता और डुबाने लगता है।

किन्तु यदि अतीत में अधिक दुःख सहे होंगे आपने तो सम्भव है कि उसकी याद न आये आपको। जिसका वर्तमान शानदार है वह अतीत को याद करने से घबराता है। आवश्यक भी नहीं है कि आप उसे याद करें। बस, आवश्यक यही है कि आप वर्तमान को शानदार बनाये रखिये। उसे पकड़िये, जाने न दीजिये हाथ से।

और शानदार कहने से अभिप्राय ऐसा नहीं कि आप भोगों में लिप्त रहने की अधिक सुविधा प्राप्त कर लें, अधिक धन का संचय करलें कुछ इस प्रकार से जिसमें अनीति हो, मिथ्याचार हो धोखा हो। आप किसी पद को हथिया लें इस प्रकार से कि जिसमें नैतिकता का सफाया हो गया हो। आप किसी स्त्री आदि को प्राप्त करलें किसी अनुचित उपाय से और मान बैठें कि हमारा वर्तमान बहुत शानदार है।

वस्तुतः मनुष्य ने सदा यह प्रयत्न किया है कि वह प्रत्येक शब्द का अर्थ अपने दृष्टिकोण से लगा सके। किन्तु विश्वास कीजिए कि जिस शब्द का जो मूल अर्थ है, उसे वैसा ही समझना कल्याणकारी हो सकता है। शानदार का अभिप्राय यह होना चाहिये कि हम जो कुछ अर्जित कर रहे हैं वह अनैतिक नहीं है किसी भी प्रकार से। हम जो भोग रहे हैं, वह उस प्रकार का नहीं है जो हमे गढ़े में गिराने वाला हो। दूसरे शब्दों में हमारा वर्तमान धर्म-सम्मत है पूर्ण रूप से, उसमें अधर्म के लिये स्थान नहीं छोड़ा है हमने। और जिसमें अधर्म को स्थान नहीं, वही हमारे जीवन में महत्व पूर्ण है। हम उसी को शानदार मान सकते हैं।

किन्तु धर्म के प्रति भी हमारे विभिन्न दृष्टिकोण हैं। कोई कहता है कि जो करने योग्य है वही धर्म है। किसी ब्रह्मचारी से पूछो कि धर्म है। किसी गृहस्थ से पूछो धर्म का रूप तो वह बतायेगा धनोपार्जन और

काम-सेवन है उसका धर्म। किसी डाकू से उसका धर्म पूछोगे तो वह कहेगा की जिस प्रकार भी हो धन की प्राप्ति हमारा धर्म है; चाहे बल प्रयोग करना पड़े, हत्या करनी पड़े।

और हत्या को धर्म उन वीरों ने भी माना हुआ है जो युद्ध के मैदान में जा डटते हैं। उनसे पूछो तो वे कहेंगे कि जितने अधिक शत्रुओं का वध किया जा सके, उतना ही अधिक धर्म पालन सिद्ध होगा। आप युद्ध से भागते हैं तो कायर और अधर्मी हैं। यदि हाथ में आये हुए शत्रु को छोड़ देते हैं तो भी धर्म-विमुख ही हैं।

शायद आप जानते होंगे कि प्राचीन काल से ही युद्ध में हत्या करना धर्म माना जाता है। सभी बड़े युद्धों में लाखों-करोड़ों की जन-हानि होती रही है। जर्मनी के हिटलर, इटली के मुसोलिनी, रूस के स्टलिन और चीन के माओ तथा उनके अनुयायियों ने न जानें कितने मौत के घाट उतार दिये। इनमें से एकाध की संख्या तो करोड़ हत्या तक पहुँच गई है। भला जो मनुष्य करोड़ मनुष्यों की हत्या कर डाले, उसका हृदय कैसा होगा, यह तो अनुमान करने की ही बात हो सकती है।

आज भी, जिन्होंने डकैती, अपहरण, लूट, हत्या आदि का बीड़ा उठाया है, वे यह नहीं देखते कि हम क्या कर रहे हैं? शायद इस प्रश्न को तो उन्होंने कभी महत्व ही न दिया होगा अपने जीवन में। यदि महत्व दिया होता तो हत्या का अंकुर फूटना ही असम्भव हो जाता और वे हिंसा की अपेक्षा अहिंसा को धर्म मान लेते।

बहुत से लोग तो धर्म-अधर्म के झंझट में ही नहीं पड़ते। उन्हें न तो धर्म को जानने से मतलब, न अधर्म को जानने से। वे समझते हैं कि इस पर विचार करना ही व्यर्थ है। क्योंकि यह एक ऐसा ढकोसला खड़ा कर दिया गया है, जिसका कोई उपयोग और अपेक्षा ही नहीं है जीवन में। यदि मनुष्य त्याग दे धर्म को तो उसकी कोई हानि होने

वाली नहीं हैं। और कुछ लोग यह भी कहते हैं धर्म के हौवे ने बहुत बड़ी हानि की है मनुष्य जाति की। यदि मनुष्य आरम्भ से ही इस पचड़े में न पड़ा होता तो उसकी बहुत उन्नति हो गई होती अब तक।

किन्तु क्या उनका कहना ठीक है ? क्या धर्म इतना अनावश्यक है कि उसके कारण मनुष्य की उन्नति में बाधा पड़ी है ? यदि तथ्य पूर्ण दृष्टि से देखें तो स्पष्ट प्रतीत होगा की मनुष्य की उन्नति में धर्म कभी भी बाधक नहीं हुआ। वरन् बाधक हुआ है अधर्म, और आप देखते हैं कि धर्म की उपेक्षा करने वाल लोगों ने स्वयं ही अपने उन्नति में बाधा खड़ी कर ली है।

धर्म नहीं तो सुख नहीं–

धर्म वह है जो प्रकृति के अनुकूल हो, जो आत्मा के अनुकूल हो। जो आत्मा के अनुकूल नहीं, शरीर के अनुकूल है, आज के मनुष्य ने उसी को धर्म माना हुआ है। यही कारण है कि इसे सर्वत्र दुःख ही दुःख दिखाई देता है। जिसे वह सुख मान लेता है, वह भी तो सुख नहीं होता उसके लिये। क्योंकि दुःख में सुख की भ्रान्ति की हुई है मनुष्य ने। उस समय उसे जो सुख दिखाई देता है, वह परिणाम में दुःख रूप ही सिद्ध होता है।

जहाँ धर्म है, वह धर्म जो आत्मिक है, जिसका सम्बन्ध सीधा आत्मा से है, वहां आनन्द हो सकता है, प्रेम हो सकता है। यदि धर्म में आनन्द और प्रेम न हो तो वह विपरीत ही समझा जायगा। क्योंकि आत्मा तो आनन्द रूप है, उसमें प्रेम रस की सरिता प्रवाहित रहती है, जिसमें आनन्द और प्रेम का अभाव है, वह धर्म जीवन को दुःखमय बना देता है और संसार को बना देता है एक ऐसा कारागार, जिसमे किसी प्रकार की कोई सुविधा नहीं होती। जिससें मनुष्य मनुष्य नहीं, पशु समझा जाता है।

और आप धर्म-विहीन हैं तो पशु के ही समान हैं। शायद पशु से भी गये-बीते हों। क्योंकि पशु फिर भी अपनी प्रकृति में ही रहता है। उसकी प्राकृतिक क्रियाअ में नियमितता रहती है। किसी दुधारु पशु को देखिये, वह समय पर दूध देगा, समय पर ही उसे भोजनादि की इच्छा होगी। आप उससे उसकी शक्ति के अनुसार कार्य ले सकता है नियमित रूप से। बहुत से व्यक्ति तो पशुओं से उनकी शक्ति से बहुत अधिक कार्य लेते हैं, इसलिए उनमें भी सरलता की कमीं हो जाती है।

जिस जीवन में सुख नहीं, उसमें मनुष्य अपनी आत्मोन्नति भी तो नहीं कर पाता। क्योंकि दु:ख के कारण मन में विषाद भरा रहता है। इसलिए न धर्म की ओर जाता है, न कर्त्तव्य की ओर। दुखित मन आत्मा और परमात्मा के विषय में कुछ जानने की ओर भी अग्रसर नहीं होता। उसे तो केवल एक ही चिन्ता रहती है—शारीरिक सुख की। उसका ध्यान उसी ओर रहता है।

धर्म के विना सुख का अभाव हो जाता है। आप शंका कर सकते हैं कि धर्म का और सुख का परस्पर क्या सम्बन्ध है? यह दोनों परस्पर में सजातीय भी तो नहीं। यदि सजातीय होते तो भी दोनों में लगाव हो सकता था। धर्म अनुभव की वस्तु नहीं, वह तो करने की है, जबकि सुख अनुभव की वस्तु है।

और यह सब शंकाएँ तब निर्मूल हो जाती हैं, जब आप तात्विक दृष्टि से विचार करते हैं। धर्म के विषय में अनेक ग्रन्थों में कहा जाता रहा है। महाभारत में मो विस्तार से ही विवेचन हुआ है धर्म का। उसमें निर्णय लिया गया कि जों कर्त्तव्य है, वही धर्म है। जो अकर्त्तव्य है वह अधर्म माना गया। परन्तु कर्त्तव्य क्या है? इसका निश्चय विवेक से ही किया जा सकता है। इस निर्णय में उन्हीं का विवेक स्वीकार किया गया है, जो तत्वज्ञानी पुरुष रहे हैं। क्योंकि तत्वज्ञान के बिना विवेक का उत्पन्न होना कठिन ही है।

एक अन्य ग्रन्थ की मान्यता है कि जो वेद के जानने वाले हैं उनके द्वारा प्रशंसित कर्म ही कर्त्तव्य होता हैं, वहीं धर्म बन जाता है। इसीलिए कहा गया है-- धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां' अर्थात् 'धर्म का तत्त्व तत्त्वज्ञानियों के हृदय में समाविष्ट है।' तत्त्व के जानने वाले जो कहें वही कर्त्तव्य है। शास्त्र वचन है--'महाजनों येन गतः स पन्थाः' अर्थात् 'श्रेष्ठ मार्ग वही है, जिस पर महान् पुरुष चलते हैं।'

एक और मान्यता रही है धर्म के विषय में--धर्म और अधर्म की उत्पत्ति का कारण स्वयं परमात्मा ही है। शास्त्र कहते हैं कि धर्म भगवान् के वक्षःस्थल से और अधर्म उनके पृष्ठ भाग से प्रकट हुआ है। इसका अभिप्राय हुआ कि अधर्म को पनपने का अवसर सामने से नहीं मिला। जो सामने नहीं आना चाहता है, वही छिपा-छिपा रहता है। धर्म के वक्षःस्थल से प्रकट होने की बात से यह व्यक्त होता है कि वह उनकी विवेक मयी दृष्टि के द्वारा ही आचरण में आया। लौकिक दृष्टि से भी आपको यह समझते देर न लगेगी कि जो चोर है वह सामने नहीं आता। यदि सामने नहीं आता। यदि सामने आये तो पकड़ा जा सकता है। सामने वही आयेगा जो सच्चा होगा, जिसे छिपने की आवश्यकता न होगी।

इससे यह बात सहज ही समझ में आजाती है कि धर्म में स्थिर रहने की शक्ति है। आप जानते हैं अपने धर्म को तो अधर्म द्वारा डिगाये जाने पर भी डिगेंगे नहीं। कैसी भी विपत्ति आपड़े, आप अधर्म को स्वीकार नहीं करेंगे। आप धर्म का त्याग नहीं कर पायेंगे। इससे स्पष्ट है कि धर्म पलायनवाद से दूर रहता है। जो धर्म में निमग्न रहने वाला है, धर्म उसका सर्वस्व बना रहता है। उसके लिए धन, सन्तान, पद, प्रतिष्ठा आदि कुछ भी बाधक नहीं हो सकता। यहाँ तक कि वह अपने प्राण देकर भी धर्म की रक्षा करता है।

धर्म निषेधात्मक नहीं है-

और आप अपने धर्म की रक्षा नहीं कर सकते तो कुछ भी नहीं कर सकते अपने जीवन में। मनुष्य के लिये जिन पुरुषार्थों को कर्तव्य रूप से स्वीकार गया है, पुरुषार्थों में धर्म ही सबसे पहिले उल्लिखित है। इससे यह मानना होगा कि जीवन की सर्वोपरि आवश्यकता धर्म ही है।

निश्चय मानिये कि धर्म पलायन के योग्य नहीं है और न निषेधात्मक ही है। यह आपके जीवन का अभिन्न अङ्ग बना हुआ है। इसलिये यदि आप धर्म की उपेक्षा करते हैं तो अपना अङ्ग की ही उपेक्षा करते हैं। आप धर्म को छोड़ते हैं तो अपना बहुत कुछ छोड़ देते हैं। यदि धर्म गया तो सब कुछ चला गया।

धर्म का मूल सम्बंध आतमा से है। क्योंकि उसकी उत्पत्ति तत्वज्ञानियों की आतमा से ही हुई है। विवेक का सम्बन्ध भी आतमा से ही है। और धर्म है विवेक जन्य, इसलिये शरीर का उससे उतना ही सम्बन्ध है, जितना कि वर्षा हो और उसके छींटे भीतर बैठे रहने पर भी शरीर पर आते हों।

धर्म यदि विवेक जन्य है, यदि कर्त्तव्य रूप में उत्पन्न हुआ है तो वह अवश्य ही सुख की सृष्टि करने वाला होगा। यदि सुख की सृष्टि होगी तो दुःख का निवारण स्वतः होने लगेगा। उस स्थिति में आपको अपनी ओर से कोई प्रयत्न नहीं करना होगा। क्योंकि दुःख जायगा, तभी सुख का आगमन होगा और जब सुख आ जायगा तब दुःख को भागना ही होगा।

यदि आप अपने को धर्म पर दृढ़ कर लें तो सुख भी स्थिर ही होगा। आप देखेंगे कि जो सुख प्राप्त हुआ है, वह साथ है आपके, दुःख भाग रहा है, वह पलायनवादी बन जाता है। दुःख भागता है तो उसके अनन्य साथी अधर्म के भी पाँव नहीं ठहरते और वह भी उसी के साथ

चला जाता है।

आवश्यक नहीं कि आप किसी धर्मगुरु की बात मानें, आवश्यक नहीं कि आप किसी शास्त्र के आदेश का पालन करें, और यह भी आवश्यक नहीं कि दूसरों की देखा देखी से काम लें। आपकी आत्मा की जो आवाज हो, उसी को अपना धर्म मानने लगें। क्योंकि उससे बढ़ कर धर्म का कोई अन्य स्वरूप नहीं हो सकता।

आत्मा सम्बन्धी धर्म ही धर्म हैं। आत्मा जो नहीं कहती, वह धर्म रूप नहीं है। आपको वही आचरण करना चाहिये, जो करते हैं आत्मज्ञानी पुरुष पर सदैव धर्म ही धर्म पुकारते रहने से भी काम चलने वाला नहीं है। आपको सोचना होगा कि जिसे हमने आँख मूँद कर धर्म मान लिया है, कहीं वह अधर्म ही तो नहीं है ?

आप भी अपने विवेक से निर्णय ले सकते है इस सम्बन्ध में। आपको यही देखना है कि आत्मा के लिये हितकर क्या है ? यदि आप इसका निर्णण ले सके तो धर्म का स्वरूप जान लिया है आपने। आपने देख ली है धर्म की छवि, वह चाहे झलक मात्र ही रही हो अभी। जो आज झलक रूप में है, वह आगे बढ़ने पर निरन्तर साक्षात्कार रूप भी हो सकती है।

तो धर्म का उद्देश्य है दुःख की अत्ययंत निवृत्ति। यद्यपि दुःख की अत्यन्त निवृत्ति तो तभी हो सकती है, जब आप सांसारिक भोगों से विमुख हो जाँय और अपने को परमात्मा की खोज में लगा दें। सांख्य का मत है कि जिससे तीनों प्रकार के दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाय, वह 'मोक्ष' नामक पुरुषार्थ है।

वैशेषिक ने धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'जिससे अभ्युदय तथा मोक्ष की सिद्धि हो वही धर्म है। उस धर्म का कथन वेद में हुआ है, इसलिये वही उसका प्रमाण है, द्रव्य, गुण. कर्म, सामान्य, विमेष और समवाय पदार्थों के स्वधर्म और विपरीत धर्म के द्वारा, तथा धर्म विशेष

से उत्पन्न तत्व ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

इसका साराश स्पष्ट है कि आप धर्म का निर्णय ले सकते हैं, पदार्थों के स्वधर्म और विपरीत धर्म की तुलना करते हुए । यह देखते हुए कि कौन-सा कार्य अपने हित में है और कौन-सा अहित में । जब आप हित-अहित की विशेषता जान लेते हैं तभी उस धर्म विशेष का निश्चय हो सकता है जो मोक्ष प्राप्त कराने वाला हो ।

चारों पुरुषार्थों में धर्म से लेकर मोक्ष तक, जीवन के लिये हितकर रहने का ही विशेष रूप से ध्यान रखा गया है । धर्म से आरम्भ होने वाला जीवन मोक्ष रूपी विशेष धर्म को प्राप्त हो जाता, है तब उसे अन्य कुछ प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रहती । इससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि धर्म वही हितकर है जो अन्त में मोक्ष की प्राप्ति करा सके ।

मोटे तौर पर धर्म का यह अभिप्राय हो सकता है कि आप अपने जीवन में किसी प्रकार के दु:ख का अनुभव कर रहे हैं तो उससे ऊपर उठने का प्रयत्न करें । आप ऊपर उठने के प्रयत्न में सफल तभी हो सकते हैं जब धर्म का सहारा लें, अपने जीवन में धर्म को प्रमुख स्थान दें । यदि धर्म को मुख्य रूप से समाविष्ट नहीं करेंगे जीवने में तो दु:खों से निवृत्ति नहीं हो सकती ।

आप चिन्तित हैं किसी कारण से तो प्रयत्न कीजिये अधर्म से बचने का । यदि आप अधर्म से बचने का प्रयत्न करेंगे तो धर्म आपका साथ देगा । काप स्वयं नहीं उठ सकेंगे दु:खों के उस गहरे गर्त्त से, यदि उठेंगे तो तभी जब धर्म का आश्रय ले लेगें । फिर यह निचिशत है कि प्रत्येक पदार्थ की क्रिया उसके गुण कर्म के अनुसार ही होती है । आप जिस धर्म का आश्रय लेंगे, वैसी ही उसकी क्रिया भी होगी । इसीलिये गीता में दूसरे के धर्म को भयोत्पादक कहा है ? आपका अपना धर्म ही आपके लिये श्रेयस्कर हो सकता है ।

आप स्वधर्म का पालन कीजिये तत्परता पूर्वक । धर्म विषयक

अपने निश्चय के कार्यान्वयन में लग जाइये। बाधा उपस्थित होती है तो होने दीजिये। आपका दृढ़ निश्चय ही उन बाधाओं को दूर करने में जुट जायगा। यदि कभीं कोई बाधा हटे ही नहीं तो भी चिंतित होने से काम नहीं चलेगा। उसे दूर करने के लिये धैर्य की भी आवश्यकता होती हैं। आप धैर्य पूर्वक सोचिये उसे दूर करने का उपाय, किन्तु उतना ही सोचिये जितना सम्भव हो आपके लिये। उतनी ऊँची उड़ान न भरिये कि सम्भव ही न हो सके। शायद आपने देखा हो किसी चील को उड़ान भरते हुए। वह उड़ान तो बड़ी ऊँची भरती है, किन्तु दृष्टि पृथिवी पर ही रहती है, उतने नीचे पर जहाँ कोई माँस को लोथड़ा पड़ा हो। उसकी उड़ान ऊँची होते हुए भी दृष्टि नीचे ही लगी रहती है। वह ऊपर की ओर देखती ही नहीं।

उस प्रकार की चील—दृष्टि से आपका काम चलने वाला नहीं है। आप नीचे रह कर भी ऊपर की ओर देख सकते हैं। आप ऊपर जान के लिये अपना मार्ग स्वय बना सकते हैं। इसके लिये बिचार करना ही पर्याप्त नहीं होगा। आपको संकल्प लेना होगा जिससे कि यदि जीवन में अभी धर्म का प्रवेश नहीं हुआ है ठीक प्रकार से तो उसमें परिवर्तन हो जाय। और अपने संकल्प पर दृढ़ रहते हैं तो आपकी जींवनचार्यां ही बदल सकती है।

दुःख सुख हमारी ही रचना है—

आपको धर्मबान होने के लिये अधिक कुछ नहीं करना है, केवल दो आधार शिला रखनी हैं, जिन पर खड़ा रह सकता है। धर्म। आपको केवल दो बातें विचारणीय है—प्रथम दुःख को देखना और दूसरी यह कि दुःख का जो ढाँचा खड़ा हुआ है, वह स्वयं हमने ही खड़ा किया है। उसे खड़े करने में सहायक कुछ और भी हो सकते हैं, किन्तु उसके मूल रचयिता हमी हैं।

हम दुःखों को देखते हैं तो घबरा उठते हैं, विचलित हो जाते हैं। क्योंकि जिन्हें हमने दुःख मान लिया है, वे हमारी सुविधाओं के विपरीत फल दिखाने वाले हैं। हमारी आशा-अभिलाषाएँ भी समाप्त हो जाती हैं दुःखों के आगमन पर। क्योंकि दुःखों को सह नहीं सकते। बहुत-से व्यक्ति तो सामान्य से दुःख पर भी रोने—चीखने लगते हैं।

शोक, भय, रोग, चोट, अपमान आदि सभी कुछ दुःख रूप ही हैं। हार होती है कहीं, तो भी हमारे लिये दुःख रूप बन जाती है। और भी अनेक प्रकार की चिन्ताएँ हो सकती हैं, जो दुःखों का कारण होती हैं। किन्तु जो लोग यह मान लें कि ऐसा तो होना ही था, उन्हें वे दुःख अधिक विचलित नहीं कर पाते। उन्हें लगता है कि यह जो दुःख की प्राप्ति हुई है, वह अनिवार्य थी। इसलिये वे प्रसन्न होते हैं यह जान कर कि जितना दुःख हम भोग चुके, उतना भोग तो कम हो ही गया। जो भोगा जा चुका, उसे आगे तो नहीं भोगना होगा।

एक महात्मा की याद आती है हमें, जिनकी जाँघ में एक फोड़ा हो गया था। महात्मा ने निश्चय कर लिया उसका उपचार नहीं करायेंगे। फोड़ा बढ़ा, पकने से पहिले अधिक पीड़ा तो स्वाभाविक थी ही, किन्तु महात्माजी ने उस पीड़ा की चिन्ता नहीं की फोड़ा पक गया, उसमें पीव पड़ गई। यह देख कर उनके भक्तों ने कहा कि महाराज ! इस फोड़े को निचोड़ने वाला मरहम लगा लेना चाहिये। एक भक्त ने तो वैसा महरम लाकर भी दे दिया। किन्तु महात्मा ने उसका व्यवहार न किया। लोगो ने आग्रह किया तो बोले—'यह फोड़ा मेरे किसी कर्म के फल रूप में प्राप्त हुआ है, इसलिये इसका भोग भी अनिवार्य है। फिर मैं उसके प्रतीकार का उपाय क्यों करूँ ?

महात्माजी ने कोई मरहम आदि नहीं लगाया। घाव में सड़न उत्पन्न हो गई। उसमें कीड़े पड़ गये, किन्तु महात्माजी को उसकी भी परवाह न थी। उल्टे, वे यह करने लगे कि घाव से कीड़े झड़ कर धरती पर

गिरते तो वे उन्हें किसी कागज आदि के सहारे उठाकर पुनः घाव में डाल लेते। इस प्रकार उन्होंने बढ़ती हुई सड़न और कीड़ों की अधिकता की भी चिन्ता नहीं की। वे इस बात पर दृढ़ थे कि जितना ही अधिक कष्ट भोग लिया जाय उतना ही अच्छा। फिर उनकी यह भी मान्यता थी कि जब इस घाव से जीवों को भोजन मिलता है तो उन्हे उस भोजन से वंचित करने का क्या अधिकार हो सकता है?

यह वृत्तान्त बताता है कि दुःख की सृष्टि हम स्वयं करते हैं। हम स्वयं ही दुःख की प्राप्ति पर रोते-चिल्लाते हैं। मानते हैं कि दुःख ने हमें आ घेरा है। किन्तु यदि आप उन महात्मा की भाँति दुःख को दुःख न मानें वरन् प्रारब्ध-भोग के रूप में उसकी अनिवार्यता स्वीकार कर लें तो दुःख का अनुभव या तो होगा ही नहीं, यदि हुआ भी तो बहुत कम। इतना कम कि उससे आप विचलित न हो सकेंगे।

दुःख का सम्बन्ध शरीर से है। आप शरीर के साथ अपने को आरोपित किये हुए हैं, इसलिये दुःख आपके लिये अधिक कष्टकारी बन जाते हैं। यदि आप शरीर के साथ लगाव न मानें तो शायद आप उस कष्टानुभूति से बहुत कुछ बचे रहें।

किसी एक विशिष्ट पुरुष के विषय में कहा जाता है कि बाल्यावस्था में या किशोरावस्था में उनकी आँख में पीड़ा हुई। उसकी गम्भीरता देख कर सर्जन ने आँपरेशन का परामर्श दिया। जब आपरेशन होने से पहिले उन्हे मूर्छित करने के उद्देश्य से इंजेक्शन देने का अवसर आया तो उन्होंने कहा कि मुझे बेहोश करने की आवश्यकता नहीं है। सर्जन ने बहुत कुछ समझाया कि बिना बेहोश किये बड़ी पीड़ा होगी, जिसे सहन नहीं कर सकोगे, उससे सम्भव है कि आँख भी बिगड़ जाय। किन्तु वे अपने निश्चय पर दृढ़ थे। इसलिये सर्जन ने बिना बेहोशी इंजेक्शन लगाये ही चीर-फाड़ आरम्भ कर दी। उसे यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि रोगी आँपरेशन के समय जरा भी विचलित न हुआ।

कहते है कि वे विशिष्ट पुरुष सरदार पटेल थे, जिन्हें इसी घटना ने लौह पुरुष बना दिया था।

आप आश्चर्य कर सकते हैं इस घटना पर और कह सकते हैं कि यह असम्भव है। किन्तु बहुत बार असम्भव भी सम्भव हो जाता है। आप अपने को शरीर से पृथक् मान लें तो शरीर सम्बन्ध से होने वाली अनुभूतियों के आभास से बचे रह सकते हैं।

यदि हम प्राप्त दुःख को अपना दुःख मानते हैं तो अवश्य ही शरीर से लिप्त हो जाते हैं। यद्यपि शरीर हमारा विजातीय है, सजातीय नहीं, इसलिये विजातीय से लिप्त होना संभव नहीं, तथापि भ्रम ने हमको बहुत भ्रमित किया हुआ है और हम उसीं के कारण अपना आपा भूल कर दुःखों का वरण किये हुए हैं।

आप स्वयं ही दण्ड-भागी बन जाते हैं–

आपको दुःख की प्राप्ति होती है तो भी आप यह नहीं देखना चाहते कि दुःख है किस प्रकार का? किसी छोटे-मोटे दुःख में भी यदि आप धैर्य खो देते है, तब यदि कोई बड़ा दुःख प्राप्त हो जाय तो आपकी क्या स्थिति होगी?

विवेक आपको उस विपरीत स्थिति से भी उबार सकता है। आप समझ लें कि संसार में अधिकतर दुःखों के निर्माता हम स्वयं ही होते हैं। यदि कोई दैवी विपत्ति ही आ पड़े तो वह आपको इस जन्म के कृत्य का फल न होकर पूर्व जन्म के कृत्य का फल हो सकता है। पूर्वजन्म में हमने जो कुछ भी किया उसी से प्रारब्ध का निर्माण हुआ समझिये। बहुत बार तो इस जन्म की भूलें भी इसी जन्म में दुःख की कारणभूत बन जाती है। हम जो कुछ करते हैं, उस पर विचार प्रायः नहीं करते। यदि विचार करके निर्णय लें तो सत्यता सिद्धि नहीं रह सकती।

लौकिक दृष्टि से भी देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि कोई अपराध

करता है तो दण्ड का भागी भी होता है। यदि अपराध न किया हो तो न्यायिक दृष्टि से भी वह दण्ड पाने का अधिकारी नहीं होता। अपराध करने वाला ही दण्ड प्राप्त करता है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य स्वयं ही अपने को दण्डभागी बना लेता है, जब कि वास्तव में वह होता ही नहीं।

बहुत से दु:ख तो ऐसे होते हैं, जिनका न कोई आधार है, न अस्तित्व ही व्यर्थ ही पीड़ा का बोझा ढोने-ढुलाने लगता है मनुष्य। कुछ लोगों में देखा गया है कि वे सिर पर कौए का बैठना अशुभ मानते है। कौआ बैठा कि उन्होंने उसे मृत्यु का लक्षण मान लिया। इसी प्रकार की एक मनोरंजक घटना हमें याद आती है। एक गृहस्थ के घर उसकी रिश्तेदारी से एक पत्र आया, जिसमें लिखा था कि अमुक व्यक्ति की मौत हो गई। फिर क्या था, रोने लगे स्त्री-पुरुष और फिर मातम-पुर्सी के उद्देश्य से वहाँ पहुंचे जहाँ से पत्र आया था। वहां पहुँचने पर देखते हैं कि जिसके मरने की खबर थी, वह तो जीवित घूम रहा है। बड़ा आश्चर्य हुआ उन्हें। पूछने पर पता चला कि उसके सिर पर कौआ बैठ गया था, इसलिये मरने का पत्र डाला गया, जिससे कि इसकी आयु बढ़ सकें।

सुना आपने ? दु:ख के निर्माण का कितने अजीव-अजीव ढँग प्रयोग में लाता रहा है मनुष्य। दु:ख नहीं था तो भी बनावटी दु:ख उत्पन्न किया गया, जैसे चोर बाजारी करने वाले लोग बनावटी अभाव उत्पन्न कर देते हैं। कौए के सिर पर बैटने वाले अपशकुन ने चाहे पत्र डालने वाले को अधिक कष्ट न दिया हो, किन्तु उन्हें तो कष्ट हुआ ही जो दूर से बस या रेलगाड़ी द्वारा मातम पुर्सी के लिये वहाँ चहुँचे होंगे। मार्ग चलने का कष्ट, भाड़ा और समय की बरबादी तोंनों का ही सामना करना पड़ा होगा उन्हें।

कहिये, है न बनावटी दु:ख ? इतना बनावटी कि उसका कुछ

आधार ही नहीं। एकदम अस्तित्वहीन और मिथ्या इस प्रकार के बनावटी दु:ख एक नहीं, न जाने कितने पाल रखे हैं मनुष्य ने। किन्तु उसका अहंकार यह मानने के लिये तैयार नहीं कि इस बेबुनियादी दु:ख कीं यदि कोई बुनियाद प्रतीत भी हो तो उसे नष्ट कर डालना चाहिये।

परन्तु, जिन्होंने नही समझा है धर्म का रहस्य, वे ही अधिक अगुआ हैं इस प्रकार के दु:खों की सृष्टि में। ऐसे लोग सुख की इच्छा करते हुए भी दु:ख का वरण कर लेते हैं। वे समझते है कि सुख-प्राप्ति मनुष्य का जन्म सिद्ध अधिकार है। किन्तु दु:ख ? यदि मनुष्य का अधिकार सुख-प्राप्ति है तो दु:ख-प्राप्ति भी होना ही चाहिये,

वस्तुत: सुख-दु:ख का जोड़ा है। यह दोनों ही साथ लगे रहते हैं शरीर के। ऐसा नहीं हो सकता कि सुख आप भोगें और दु:ख कोई दूसरा भोगे। यदि आप दु:ख नही चाहते तो सुख की भी कामना न करो। क्योंकि सुख-दु:दु:ख रूप भ्रान्ति, जिसमें यथार्थ नहीं है, जिसका अस्तित्व नही है, शरीर और उसके ममत्व ने ही उत्पन्न की है। क्योंकि आपने शरीर सम्बन्धी धर्म को ही धर्म माना हुआ है। आप इसके अतिरिक्त और कुछ जानते भी नहीं शायद।

किन्तु जिन्होंने कुछ आभास पालिया है आत्मा से सम्बन्धित धर्म का वे इस निश्चय पर पहुँचे है। कि सुख-दु:ख की ऐसी भ्रांति है, जिसमें मिश्रण है, जिसमें पारस्परिक तादात्म्य स्थापित हो गया है। जिसे आप सुख समझते हैं एक क्षण, दूसरे क्षण वही दु:ख बन जाता है और जिसे आप दु:ख समझ बैठे हैं, वह असलियत खुलने पर सुख रूप दिखाई देने लगता है।

और यह भी एक तथ्य है कि मनुष्य सुख की खोज में लगा है, धर्म की खोज में लगा है। वह ऊबने लगा है इस जीवन से और इस प्रकार की ऊब न जानें कब से उत्पन्न की जाती रही हैं। जब वह ऊब उत्पन्न

हो जाती है तब मनुष्य प्राणोत्सर्ग तक के लिये तैयार हो जाता है। संसार में जीतनी भी आत्महत्याएँ होती सुनी जाती हैं, उनमें अधिकांश भाग ऊब के कारण ही मरने के निश्चय का होता है।

हत्या और आत्महत्या के मार्ग–

कभी-कभी वातारण भी ऐसा बना दिया जाता है। अभी हाल की ही बात है—एक स्त्री थी, पति की मृत्यु हुई तो रोने लगी। एक बार तो वियोग का दुःख बड़ा ही होता है। उसने कहा कि मैं सती होना चाहती हूँ, इसलिये लोगों ने बल पूर्वक रोका उसे। कहते हैं कि कई दिन बाद ऐसा वातावरण तैयार कर दिया गया उसके लिये कि वह सती होही गई। इस घटना को कोई सत्य कहता है, कोई झूट, जो लोग झूँठ कहते हैं उनका कहना है कि वह स्त्री आग में जलती हुई चिल्ला रही थी और बहुत से लोग 'सती माता की जय' के उच्च घोष में उसकी चिल्लाहट को दबा रहे थे।

प्रश्न इसका नहीं की वह स्त्री सच्चे मन से सती हुई थी या वातावरण से प्रभावित हो कर किन्तु प्रश्न यह है कि क्या वह घटना रोकी नहीं जा सकती थी ? आज मनुष्य को क्या हो गया है जो किसी की प्राण रक्षा के लिये भी भरसक प्रयत्न नहीं करना चाहता ? लोग कहते हैं कि यदि प्रयत्न किया जाता तो वह स्त्री बचाई जा सकती थी।

आत्महत्या का मार्ग मनुष्य कृत है, हत्या का मार्ग भी मनुष्य कृत है और यह दोनों मार्ग आज के नहीं हैं, न जाने कब से चले आरहे हैं ; किन्तु इन दोनों के आन्तरिक भेद भी है। कोई आत्महत्या कर लेता है एकदम कोई धीरे-धीरे करता है। धीरे-धीरे होने वाली आत्महत्या के भी विभिन्न भेद हैं। कोई एकदम पिस्तौल की गोली मार ले, कोई फांसी का फन्दा लगा ले, कोई तलवार से सिर काट ले, आत्महत्या का यह वह रूप है, जिसका फल प्राणान्त के रूप में तुरन्त दिखाई देता है। एक

हत्या मध्यम प्रकार की भी रही है, जैसे मोक्ष के नाम पर काशी कर-वट। कहते हैं कि इसमें प्राणोत्सर्ग करने वाला मनुष्य मौत के कुँए के किनारे लेटता और करवट लेकर कूप में जा पड़ता। वहाँ नीचे जो आरे लगे होते वे उसे परमधाम का अधिकारी बना देते हैं।

जीवन से विरक्ति होने पर जब मनुष्य सीधी आत्महत्या नहीं कर पाता था तो उसके लिए सरल उपाय था घर-त्याग का। अनेक व्यक्ति मरने के उद्देश्य से घर छोड़ कर चले जाते थे। जैसे पाण्डवों ने घर छोड़ा तो तब तक उत्तराखण्ड में बढ़ते चले गये जब तक थक कर गिर नहीं गये।

एक बात और थी पहिले कभी। जब मनुष्य उत्तराखण्ड की तीर्थ-यात्रा के लिए निकलता, तो उसे पता नहीं रहता था कि लौट कर आऊँगा भी या नहीं ? लोग उसे भरे दिल से विदा करते थे उसी प्रकार जैसे किसी सदा के लिये बिछुड़ने वाले को विदा किया जाता है।

और इनमें से बहुत सी बातें धर्मानुकूल मानी जाती रही हैं। घर से अब होने पर एक और विधि प्रयोग में लाई जाती रही है, जिसे 'संन्यास' कहते हैं। जो लोग विरक्त होते थे घर से वे परमात्मा की प्राप्ति के उद्देश्य से संन्यासी बन जाते थे। वर्तमान में भी बहुत से व्यक्ति इस प्रकार घर छोड़ कर संन्यास ग्रहण करते हुए पाये जाते हैं।

किन्तु संन्यास वह लेता था जो अहंकार का त्याग कर देता था। काम, क्रोध, लोभ, मोहादि से ऊपर जाता था। संसार से सम्बन्ध न रखने के कारण उसकी स्थिति समाज में तो मृतक के समान ही हो जाती है। क्योंकि संन्यासी घर छोड़ कर चला जाता है तो फिर लौट कर नहीं आता। लौटता वही है। जिसका अहंकार पुनः जाग उठता है, इसलिए उसका चित्त नहीं लगता भगवान् में। इसकी स्थिति वही होती है, जो उस आत्म हत्या करने वाले की, जो आत्महत्या न कर सके।

और आप आत्महत्या करते हैं तो जीवन से भागते हैं। आप संन्यास लेते हैं तो भी जीवन से भागते हैं। शायद उस समय आप समझ नहीं पाते कि जीवन कितना उपयोगी है। आप संसार में आते हैं जीवन के लिए, जीवन से भागने के लिये नहीं। क्योंकि जीवन देता है परमात्मा, आप स्वयं तो उसे प्राप्त करने में समर्थ हैं नहीं। फिर आपको क्या अधिकार है कि जीवन से भागें ?

किन्तु जिन्होंने संन्यास को एक अन्तिम आश्रम माना था जीवन के लिये, उनका उद्देश्य घर-त्याग से ही पूरा नहीं हो जाता था। वे चाहते थे कि जो संन्याल लेना चाहता है वह अहंकार और उसके सहायक कामादि विकारों का त्याग करे। वे चाहते थे कि वह किसी प्रकार के ममत्व में न पड़ा रहे।

चार आश्रम, चार पुरुषार्थ-

यदि कोई संन्यास लेकर घर बसाये तो उस उद्देश्य से उलटी बात होगी। आप घर में रहते हुए भी संन्यासी बने रह सकते हैं। बस, इन्द्रियों को विमुख करने के प्रयत्न में जुट जाइये विषयों से। आप स्वयं ही अहंकार से दूर हो जांयगे। जब अहंकार जायगा तो उसके अनुयाई काम-क्रोधादि भी पलायन कर जायेंगे।

धर्म ने मनुष्य के लिये चार कर्त्तव्य निश्चित किये थे आश्रम रूप से। उसने उस स्थिति को ब्रह्मचर्याश्रम कहा है, जिसमें आप शिक्षा प्राप्त करते हैं—आचार-विचार सीखते हैं और अक्षर ज्ञान के अभ्यासी होते हैं। ऋषियों ने माना है कि यह आश्रम उस नींव की ईंट के समान है जिस पर समूचा ढांचा खड़ा रह सकता है। यदि नींब की ईंट कमजोर होती हैं तो ढाँचा भी शीघ्र ही ढह सकता है। इसलिए मनुष्य के उत्थान का श्री गणेश इसी आश्रम से हो पाता है।

दूसरा आश्रम गृहस्थाश्रम है। मनुष्य जब तरुणावस्था को प्राप्त

होता है, तभी इस आश्रम का आरम्भ होता है और प्रौढ़ावस्था तक चलता है। पुरुषार्थों का आरम्भ भी इसी आश्रम से होता है। क्योंकि धर्म पालन इसका महान लक्ष्य है। धर्म के साथ अर्थ-सञ्चय भी आवश्यक होता हैं। क्योंकि अर्थ के बिना तो जीवन का कोई कार्य ही नहीं चल पाता। काम सेवन को धर्म मानने की भी इसी आश्रम में सुविधा है। किन्तु आप धन-सञ्चय करें अथवा काम सेवन वैध होगा धर्म के साथ ही। आप जो कुछ भी करें, धर्म की परधि में रहते हुए ही करें, यही गृहस्थ जीवन का मुख्य उद्देश्य है।

गृहस्थाश्रम के पश्चात् ही वानप्रस्थाश्रम आता है। आप गृरस्थ में रहते हुए काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि का पूर्ण रूप से त्याग करने को तत्पर होते हैं तभी इस आश्रम की सफलता है। आप वानप्रस्थी होते हैं तो आदत डालते हैं इस बात की कि माया-मोह में न पड़ें। आप अभ्यास करते हैं अपने को ऊँचा उठाने का और जब तक आप इस अभ्यास में पूर्ण सफल नहीं हो जाते, घर छोड़ने के अधिकारी नहीं हो सकते।

आप वानप्रस्थी होते हैं तो संन्यास के अभ्यास की ओर बढ़ते हैं। आप त्याग तपस्यामय जीवन की आदत बनाते हैं, तभी संन्यासाश्रम का निर्वाह कर सकते हैं। जब तक आप वानप्रस्थ का निर्वाह नहीं कर पाते ठीक प्रकार से, तब तक आप उस योग्य नहीं हो पाते कि संन्यासी बन सकें। जो लोंग वानप्रस्थ के बिना, सीधा संन्यास लेते हैं, वे उसमें कठिनाई से ही सफल हो पाते हैं।

किन्तु सन्यास का अभिप्राय क्या है? शायद बहुत कम लोग समझ पाते हैं इसे। बहुत से तो संन्यासी भी उसका सही तात्पर्य नहीं जानते। विशेष कर वे लोग जो संन्यासी तो हो गये, किन्तु मन में संन्यास जाग्रत नहीं हो सका। जब तक मन में संन्यास न होगा तब तक शरीर तो

विषयों से विमुख हो ही नहीं सकता। आप मन के संन्यासी हुए बिना कर्म से संन्यासी नहीं हो सकते और कर्म से संन्यासी न होना ही घोर बन्धन का कारण है। जो कर्म संन्यासी नहीं, वह प्रारब्ध को अधिक बढ़ाता जाता है।

गीता में श्री कृष्ण ने इसीलिए कर्म संन्यास का उपदेश किया था अर्जुन को। उन्होंने कर्म संन्यास को भी योग ही माना है। किन्तु कर्म संन्यास का अर्थ निष्क्रिय होने से नहीं है। क्योंकि निष्क्रिय होने से भी प्रारब्ध रूप से जो सञ्चित है, उसका क्षय असम्भव ही है।

मान लीजिये कि किसी ने अशुभ कर्म किये हैं पिछले जन्मों में उनसे जो प्रारब्ध बना वह फल भी अशुभ ही देने वाला होगा। आप उस अशुभ प्रारब्ध को तभी क्षीण कर सकते हैं, जब शुभ कर्म करें। अशुभ कर्मों के अशुभ फल से बचने के लिये शुभ कर्मों का किया जाना अत्यावश्यक है। जो लोग आगामी जन्म में सुखी रहने की कामना करते हैं, अशुभ कर्मो का सर्वथा त्याग करना चाहिये।

किन्तु जो लोग मोक्ष की कामना करते हैं, उनके लिये आवश्यक है अशुभ कर्मों का नाश। क्योंकि अशुभ कर्मों का फल शेष न रहने पर ही आप सुख प्राप्ति के भागी हो सकेंगे। परन्तु वह सुख मोक्ष रूप नहीं हो सकता। क्योंकि मोक्ष के लिये तो शुभ कर्मों का क्षय भी आवश्यक है। यदि शुभ कर्म भी शेष रहेंगे तो उनका शुभ फल भोग ही सही, भोगना तो होगा ही।

इस विषय में शंका हो सकती है कि शुभ फल-भोग का क्षय किस प्रकार हो? क्या उसके लिए अशुभ कर्म करने होंगे? क्योंकि जब अशुभ कर्मों का नाश शुभ कर्मों से होता है तब शुभ कर्मों का नाश अशुभ फल से होना चाहिये? वस्तुतः यह शंका कुछ वजनदार तो है किन्तु उसी प्रकार की जैसे किसी पात्र में कूड़ा-कर्कट भर कर उसे वजनदार बना दिया गया हो।

शुभ कर्मों का नाश करने के लिये अशुभ कर्म करने लगेंगे तो यह पता भी न चलेगा कि शुभ कर्मों की समाप्ति कब हो गई ? और ऐसी स्थिति में अशुभ कर्म होते रहेंगे और अशुभ फल-भोग का पलड़ा भारी होता रहेगा। इसलिये अशुभ कर्मों को बन्धन रूप जान कर तुरंत ही उन्हें जोड़ देने का संकल्प लेना चाहिये।

आप जो भी शुभ कर्म करें, उन सभी को साक्षी भाव से करें। उनके कर्त्ता स्वयं न बनें। भगवान् के लिये समर्पण करते रहें उनका। भगवान् के लिये कर्मों का समर्पण ही आपको कर्मो के क्षय का कारण बन जायगा और उसी से कर्म संन्यास की सिद्धि होगी।

कर्म-संन्यास के पश्चात् ही सब प्रकार का संन्यास सिद्ध हो सकता है। आवश्यक नहीं कि कर्म संन्यास वन में निवास करने पर ही सिद्ध हो सके। आप घर पर रह कर भी जो भी कर्म करें परमात्मा को समर्पित कर दें। उनसे अपना लगाव तो रखें ही नहीं। ऐसा होने पर आपके द्वारा होने वाले कर्म शुभ ही होंगे। आप कभी कर ही न सकेंगे कोई अशुभ कर्म। क्योंकि परमात्मा में जो समर्पित कर देता है कर्मो का उसका मन समर्पित हो जाता है। उसकी जितनी भी इच्छाएँ होती हैं, वे सब भगवान् से ही सम्बन्धित रह जाती हैं। उस समय वह यह सोच भी नहीं पाता कि भगवान् से भिन्न कुछ और भी है।

यही परमात्मा की प्राप्ति का उपाय है। आप खोज करना चाहते हैं भगवान् की तो सर्व प्रथम मन का ही समर्पण करना होगा। जिस मन की चञ्चलता प्रसिद्ध है और जो क्षण में आपके पास तो क्षण में लाखों मील दूर, वह जब तक स्थिर नहीं होगा, समर्पण के योग्य भी हो न सकेगा। इसलिये परमात्मा के विषय में जानना चाहते हैं तो पहिले मन को विषयों से विरक्त कीजिये और शून्य में उतारने का प्रयत्न कीजिये। किन्तु यह होगा अभ्यास से ही। जब आप अभ्यास करेंगे तो सफलता भी अधिकदूर नहीं रहेगी।

भक्तिवादियों को मोक्ष के चार प्रकार--

भक्तिवादियों ने मोक्ष के चार प्रकार मानते हुए उनका विवेचन भी उसी के अनुरूप किया है। सालोक्य, समीप्य, सारूप्य और सायुज्य के नाम दिये गये है इन चारों को। आप परमात्मा के लोक में निवास करने के अधिकारी हो जाते हैं तो समझ लीजिये कि जब आप जान लेंगे कि परमात्मा है कहाँ ? वह कौन सा स्थान है जहाँ परमात्मा रहते हैं ? कोई उनका स्थान सत्यलोक बताता है तो कोई ब्रह्मलोक, कोई वैकुण्ठ लोक की बात कहते हैं तो कोई गोलोक की। किसी ने परमात्मा का धाम साकेत बताया है तो कोई कहते हैं कि वे स्वर्ग में रहते हैं।

इन विभिन्न मतों के अनुसार यह निश्चय नहीं हो पाता कि परमात्मा का निवास स्थान है कौन सा ? और हम भी अभी इस झंझट में पड़ना अनावश्यक समझते हैं कि परमात्मा सत्य लोक, विष्णु लोक आदि में से कहाँ से कहाँ रहते हैं ? अभी तो हम यही कहना पर्याप्त मानते हैं कि सालोक्य मुक्ति का अभिप्राय परमात्मा के लोक में निवास करना है, वह भी उनके साथ ही। यदि ऐसा मान लें कि उनके साथ रहने, न रखने से क्या अन्तर पड़ता है तो मुक्ति की जो विशेषता नाम के अनुरूप कही गई है, वह व्यर्थ हो जायगी।

जो परमात्मा के समीप रहे उसकी मुक्ति को सामीप्य मुक्ति कहते हैं। आप भगवान् की उपासना के फल स्वरूप इतना अधिकार प्राप्त करलें कि उनके साथ स्वामी सेवक भाव से रह सके,अर्थात् उन्हें स्वामी और स्वयं को सेवक मान कर सदैव उनकी सेवा कर सकें तो सामीप्य मुक्ति के पूर्ण अधिकारी हो सकते हैं।

आप भगवान के भक्ति हैं, मानते हैं कि भगवान् ही सर्व नियन्ता, सर्व रक्षक और सभी के स्वामी हैं। इसीं मान्यता के साथ आप उनकी

पूजा सेवा में रुचि लेते हैं। आपकी इच्छा होती है कि उनके अतिरिक्त अन्य किसी के अधीन न रहूँ। आपकी वह इच्छा निश्चय ही आत्म समर्पण से ओत-प्रोत है। और यह आत्म-समर्पण ही आपको सुयोग प्रदान कर सकता है सामीप्य मुक्ति का।

यदि आप परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन करते हैं तो सारूप्य मुक्ति के अधिकारी हो सकते हैं। इस मुक्ति की कामना होने पर भगवान् के रूप का निश्चय करना होता है सर्व प्रथम। क्योंकि रूप-चिन्तन हो सकता है रूपवान का। यदि आप चाहें कि परमात्मा को निराकार मान कर ही उनके रूप का चिन्तन करें तो यह असम्भव है। वैसे ही असम्भव है, जैसे गणितज्ञों ने शून्य को गोल बिन्दी का आकार दे दिया अन्यथा शून्य का मुख्य अर्थ तो अभाव है। जहाँ कुछ नहीं; वहीं शून्य शब्द की सिद्धि होगी।

कुछ शून्यवादी कहते हैं कि परमात्मा तो है ही नहीं,उसकी कल्पना मात्र कर ली गई है। किन्तु कल्पना के लिये भी कुछ तो आधार होना ही चाहिये। बिना आधार तो वह भी नहीं हो सकती। आप परमात्मा की कल्पना भी करें तो, तभी करेंगे जब कहीं उसका आधार मिला हो आपको। इससे यह समझना होगा कि परमात्मा है। अवश्य और जो ऐसा मान कर उससे साक्षात्कार करना चाहते हैं, वे सारूप्य मुक्ति का सुयोग प्राप्त कर सकते हैं।

किन्तु सारूप्य मोक्ष का अधिकारी वही हो सकता है जो सगुण ब्रह्म का उपासक हो। सगुण का ही आकर हो सकता है और आप भगवान् के किसी रूप के, किसी आकार के उपासक हैं और कामना करें कि मैं भी वैसा ही रूप प्राप्त कर लूँ तो यह कुछ असम्भव नहीं है।

इस सम्बन्ध में आप समझलें कि आप उधर ही जा सकते हैं। जिधर आपका मन लेजाय। आपका मन आपको दास्य भाव की प्राप्ति

करता है आप सेवक बन सकते हैं भगवान् के । यदि आपके मन ने पत्नी भाव की प्राप्ति कराई है तो आप परमात्मा की उपासना पति रूप में करते हुये वैसी ही स्थिति में पहुँच सकते हैं ।

शायद सुना है आपने कि सखी सम्प्रदाय के उपासक अपने को भगवान कीं प्रियतमा मानते हुए पतिरूप में उनकी उपासना करते हैं । वे स्त्रियों जैसे वस्त्र पहिनने और स्त्रियों के समान ही उच्चारण करते हैं । जैसे कि करूँगी, जाऊँगी, खाऊँगी आदि । इस प्रकार सखी-सम्प्रदाय का साधक भगवान् की पत्नी के रूप में अपना तादात्म्य स्थापित करता है, जिसके फल स्वरूप उसके रूप, रङ्ग, आवाज आदि में भी कुछ अन्तर आने लगता है ।

कहते हैं कि स्वामी रामकृष्ण भी सखी-सम्प्रदाय में सम्मिलित हुए थे एक बार । वस्त्रादि तो स्त्रियों जैसे पहिने ही थे उन्होंने; उच्चारण भी स्त्रियों के ही समान करते थे । उनके मन ने स्त्री रूप के साथ ऐसा तादात्म्य स्थापित किया कि उनमें कुछ शारीरिक परिवर्तन भी होने लगा । कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि उनका वक्षस्थल स्त्रियों के समान हो गया और रजस्वला जैसी स्थिति से भी सामना करना पड़ा था उन्हें । अन्त में उस झंझट से बचने के लिये उन्हें अपना सखी-भाव छोड़ देना पड़ा और बहुत दिन बाद वे अपने मूल स्वरूप में लौट सके ।

सारूप्य मुक्ति केवल भक्तों को ही प्राप्त होती हो, यह बात नहीं है । जो लोग शत्रुता से भी उनके रूप का चिन्तन करते हैं, वे भी इसके अधिकारी हो जाते हैं । भागवत में कहा है कि शिशुपाल, पौण्ड्रक, शाल्व आदि राजगण सोते, बैठते आदि में वैर भाव से ही भगवान् का ध्यान करते थे इसलिये भगवान् की गति, कटाक्ष और विलासादि में उनकी बुद्धि उसी रूप की हो गई थी । इसी कारण उन्हें सारूप्य मुक्ति प्राप्त हो गई । गीता में कृष्ण ने कहा है कि जो पुरुष अन्तकाल में मेरा स्मरण करता हुआ शरीर त्याग करता है वह अवश्य ही मेरे रूप को

प्राप्त होता है।

जो जीव भगवान में समाविष्ट हो जाता है, उसके उस समावेश को सायुज्य मुक्ति कहते हैं। इस सम्बन्ध में गीता कहती है कि 'जो व्यक्ति पराभक्ति के द्वारा मुझे और मेरे प्रभाव को ठीक प्रकार से जान लेता है, वस तत्व ज्ञान के प्रभाव से ही मुझ में प्रविष्ट हो जाता है।' इससे स्पष्ट है कि सायुज्य मुक्ति तब तक नहीं होती, जब तक कि आप पराभक्ति में सफल न हो जाँय।

पराभक्ति ही तत्वज्ञान की परांकाष्ठा है। इसे नैष्कर्म्य सिद्धि या परम सिद्धि भी कहा है विद्वानों ने। किन्तु यह तभी होता है जब सभी शुभ-अशुभ कर्मो का क्षय हो जाता है। ऐसा होने पर ही मनुष्य परमात्मा में लीन होने का अधिकार प्राप्त कर सकते हैं।

और अन्त में तो सभी को उस परमात्मा में ही लीन होना है। जब महा प्रलय होती है तब संसार अदृश्य हो जाता है। उस सब का आश्रय स्थान एक मात्र परमात्मा ही है। शायद आपने देखा हो जल पर उठते हुए बुलबुले को। वह जल से उठता और जल में ही विलीन हो जाता है। इसलिये यह विश्व परमात्मा से ही प्रकट होता और उसी में लीन होता है।

यह हुई सायुज्य मुक्ति। तात्विक दृष्टि से तो यही स्पष्ट होता है कि सायुज्य मुक्ति ही ऐसी मुक्ति है, जिसमें पहुँच कर प्राणी संसार के आवागमन से मुक्त हो सकता है। सालोक्य, सामीप्य और सारूप्य मुक्ति में पुनरागमन की सम्भावना बनी रहती है। पुण्य है तब तक प्राणी रह सकता है भगवान् के लोक में पुण्य की अधिकता उसे सेवक भाव की प्राप्ति भी करा सकती है; किन्तु सम्भव है कि पुण्य के क्षीण होने पर पुनः जन्म लेना। सारूप्य मुक्ति में भी ऐसी सम्भावना हो सकती है। क्योंकि इन तीनों ही प्रकार की मुक्ति में जीव का अस्तित्व पृथक्-सा बना रहता है। और जब तक अस्तित्व पृथक् रहेगा, तब तक वहाँ से

लौटने की आशंका भी रह ही सकती है।

इसीलिये विद्वानों ने सायुज्य मुक्ति को ही मुक्ति माना है। जन्म-मरण से मुक्त होना सायुज्य मुक्ति में ही संभव है। यों तो अन्यान्य प्रकार की मुक्तियों का भी उल्लेख मिलता है, जैसे कि नित्य-अनित्य वस्तुओं के विचार द्वारा ममता रूप बन्धन का नष्ट हो जाना भी बन्धन है। अनेक व्यक्ति में 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी मान्यता बनने को भी मोक्ष कहते हैं। उनका कथन है कि जिस उपाय से दुःखों की निवृत्ति हो जाय, वह उपाय ही मोक्ष रूप हो जाता है।

आत्मा-परमात्मा के ऐक्य का निश्चय हो जाना भी मोक्ष का एक परम उपाय है। जब मन आत्मा से जुड़ जाता है तभी समाधि की अवस्था उत्पन्न होती है और समाधि उत्पन्न होती है तो उसी अवस्था में आत्म-साक्षात्कार हो सकता है।

एक बार एक महर्षि ने कहा था—भवसागर से पार जाने के लिये अभ्यास और श्रेष्ठ वासना शक्ति का ही सहारा लेना चाहिये। श्रेष्ठ वासना शक्ति का अभिप्राय बताते हुए उन्होंने कहा था कि आत्मिक शक्तियाँ तीन हैं—इच्छा, क्रिया और ज्ञान। इनका उदय होने पर ही निस्तार होता है प्राणी का। इच्छा सभी करते हैं, किन्तु किसी की इच्छा बुरी होती है' किसी की अच्छी। जो अच्छा इच्छा है, जिसका सम्बन्ध परमात्मा से है वही श्रेष्ठ वासना शक्ति हो सकती है। वासना पाप नहीं है, किन्तु तभी, जब कि श्रेष्ठ हो और आत्मिक उपकार में सहायक हो सके।

यदि इच्छा शक्ति श्रेष्ठ होगी तो ही क्रियाशक्ति भी आत्मा के अनुकूल रहेगी। श्रेष्ठ क्रिया शक्ति से ही मनुष्य शुभ कर्मों का करने वाला होता है। ज्ञान भी अच्छा, बुरा दोनों प्रकार का हो सकता है। ज्ञान शुभ है तो उसका सम्बन्ध आत्मा से होगा, जबकि अशुभ ज्ञान का सम्बन्ध शरीर से हो सकता है, आत्मा से नहीं हो सकता।

मोक्ष-प्राप्ति में शुभ इच्छा, शुभ क्रिया और शुभ ज्ञान बहुत सहायक हो सकता है। इस प्रकार इन शक्तियों की त्रिपुटी भी तभी उपलब्ध होती है जब आप विचार करें कि 'मैं कौन हूं ? कहाँ से आया हूँ ? जन्म-मरण क्यों होता है ? दु:खों की प्राप्ति क्यों होती है ? उनसे छुटकारे का उपाय क्या है ?

और जब आप इस प्रकार के विचार में निमग्न हो जाते हैं तब आपको एक आशा की किरण दिखाई दे सकती है। आपका मन भी साथ देने लगता है और उस स्थिति में आप धीरे-धीरे किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं। आपको समाधि का भी सुयोग उपलब्ध हो सकता है।

'मैं' के शून्य होने पर समाधि की उपलब्धि

समाधि क्या है–

जब हम समाधि की बात कहते हैं तो आपको स्पष्ट बता देना चाहते हैं कि आपको कुछ प्राप्त करना है तो समाधि में उतरना होगा। समाधि में जाये बिना आप न कुछ जान सकते हैं न कुछ उपलब्ध कर सकते हैं। आपको आत्मा का ज्ञान करना है तो समाधि में जाना होगा। परमात्मा का ज्ञान करना है तो भी समाधि के बिना कभी नहीं हो सकता।

किन्तु समाधि है क्या ? योगीजन कहते हैं कि ध्यान की अन्तिम अवस्था का नाम है समाधि। आप ध्यान में जाते है तो आपको होश रहता है और आप कह सकते हैं उस अवस्था को जिसमें पड़े हैं। किन्तु

जब ध्यान में होश न रहे और आप कुछ कह न पायें उस विषय में तब वही ध्यान समाधि का रूप ले लेता है। समाधि में जो कुछ अनुभव में आता है उसका वर्णन शब्दों में नहीं हो सकता।

और फिर भी हम कह सकते हैं कि जीवन में यदि सबसे अधिक महत्वपूर्ण है कुछ तो वह समाधि ही है। यदि सच्चा आनन्द प्राप्त करना है तो उसके लिये समाधि में ही आना चाहिये। क्योंकि समाधि से भिन्न आनन्द आपको शान्ति नहीं दे सकता। आप सत्य की खोज करना चाहते हैं तो भी समाधि में कर सकते हैं। आप यह जानना चाहते हैं कि परमात्मा कहाँ हैं तो भी समाधि से हीं उसका ज्ञान हो सकता है।

आज बड़ी-बड़ी बातें की जाती हैं परमात्मा के विषय में। अनेक व्यक्ति कहते हैं कि हमने जान लिया है परमात्मा को। अनेक व्यक्ति कहते हैं कि परमात्मा का जानना कुछ भी कठिन नहीं है। और जो जान लेने की बात कहते हैं वे तो परमात्मा को शायद ही जानते हों। किन्तु जो उसका जान लेना सरल बताते हैं, वे भी उसे जानने के लिये भाग-दौड़ करते फिरते हैं। सरल उनके लिये भी नहीं होता परमात्मा।

भाग-दौड़ से परमात्मा नहीं मिल सकता। उसे प्राप्त करने की लालसा है तो कहीं मत जाओ और सोचो कि वह कहाँ मिल सकेगा! शायद अधिक मन्थन करने पर आप यह समझ पायें कि परमात्मा को पाने के लिये उस मार्ग पर चलना होगा, जिस पर योगी पुरुष घूम कर पहुंचने के लिये उसे अनेक मोड़, अनेक पुल पार करने होते हैं। किन्तु जो लोग उन पर मोड़ों और पुलों की दूरी से बचना चाहते हैं, उनके लिये भी परमात्मा दुर्लभ नहीं है। वे सीधे चल सकते हैं ध्यान के मार्ग पर, जिसके अन्त में वह निवास स्थान आता हैं जहाँ परमात्मा विराजमान हैं, उस निवास का द्वार है समाधि। भगवान् के घर में पहुँचना है तो द्वार में प्रवेश करना ही होगा।

परन्तु अनेक व्यक्ति डरते हैं समाधि से। क्योंकि समाधि के दो भेद तो प्रत्यक्ष ही हैं—एक भेद है ध्यान-मार्ग से आगे बढ़ना और अपने को भूल जाना, अपने को मिटा देना, मान लेना कि मैं हूँ ही नहीं। यदि आप रहते नहीं, अपने अस्तित्व को खो बैठते हैं तो परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं। 'मैं हूँ' की मान्यता आपको परमात्मा से दूर करती है। वही आपको शून्य से खींच कर माया रूपी दृश्यमान जगत् में लाती है। आप जाना चाहते है शून्य में, किन्तु वह नहीं जाने देती आपको।

आप सोचते हैं कि मैं को मिटा देने से काम बनेगा ? कभी आपका मन कहता है कि बनेगा, कभी कहता है कि नहीं बनेगा। यदि मैं है तो वह मिटेगा भी नहीं। क्योंकि जो होता है, जिसका अस्तित्व है वह मिट नहीं सकता। मिटेगा वही जो अस्तित्व में नहीं है। वस्तुत आप अस्तित्व में हैं, आपका स्व भी अस्तित्व में हैं, किन्तु 'मैं' अस्तित्व में नहीं है। उसका सम्बन्ध शरीर से है और शरीर से जिस-जिसका भी सम्बन्ध है वह झूठा है।

जो मिटने जा रहा हो, वह अस्तित्वहीन है। उसमें भाव तो कहीं है ही नहीं। इसलिये डरिये मत इससे कि आप मिट रहे हैं। क्योंकि आप तो मिट ही नहीं सकते, आपके मिटने का कोई कारण भी नहीं है। यदि आप समझते है अपने मिटने की बात तो बहुत बड़ा भ्रम पाले हुए हैं आप। जिसे आप मिटना समझते हैं वह तो आपका बाह्या-डम्बर हैं, वह तो दम्भ है, अहंकार है। आप कहते हैं कि मैं मिट रहा हूँ तो निश्चय ही आप अपने अहंकार के विषय में कहते हैं। यदि कुछ मिटा सकते हैं तो उसी को, जो अस्तित्व की परधि से बाहर है।

आप किसी वस्तु को मिटाना चाहें तो उसका रूप मिट सकता है, उसके तत्व नहीं मिट सकते। क्योंकि तत्व में जो अणु-परमाणु हैं, उनका अस्तित्व है। यदि आप पाये कि किसी वस्तु का सभी कुछ मिट रहा है तो यह समझना होगा कि उस वस्तु में असली तत्व ही नहीं है। उसका

रूप किसी नकल से खड़ा कर दिया है। जो नकली है, उसका अस्तित्व भी नकली होगा।

हम समाधि के नाम से तव और भी डर जाते हैं जब उसके दूसरे रूप पर दृष्टि जाती है। कोई साधु-सन्त या विशिष्ट पुरुष मरता है तब उसकी समाधि बनाई जाती है। उससे यह धारणा बने कि समाधि का अर्थ मृत्यु के बाद की परिस्थिति है तो उससे भय होना स्वाभाविक भी है। क्योंकि हमें मृत्यु से तो डर लगता ही है और जब समाधि का अर्थ किसी मरे हुए व्यक्ति की यादगार हो तब तो समाधि शब्द से भी भय लगेगा ही।

समाधि का अर्थ–'मैं' का अभाव–

किन्तु समाधि शब्द के शात्विक अर्थ पर नहीं पहुँचे हैं अभी आप। उसके दो रूपों तक ही आपकी जानकारी सीमित है। किन्तु समाधि का अर्थ 'में' का अभाव होना भी हैं। आप समाधि में जाते हैं तो 'मैं' को मार कर ही जा सकते हैं। पहिले 'मैं' को नष्ट कर डालो, तब समाधि में जाओ। फिर देखो कि आप कहाँ पहुँचते हो ?

'मैं' है तो यह संसार है। समस्त दृश्य 'मैं' के द्वारा ही उत्पन्न है। 'मैं' एक बीज है उस वृक्ष का जो शीघ्र ही अपना आकार धारण कर लेता है। बीज में अंगुर फूटते ही आप जिस दृश्य को देखते हैं, वही उसे आशान्ति करता है। और आशा तो सब झंझटों की जड़ है ही। आशा है तो अभिलाषा है और अभिलाषा है तो 'यह मैं हूँ' और 'वह तू है'। एक बीज दो भागों में विभक्त होकर मैं और तू का रूप धारण कर लेता है।

समाधि में पहुँचते-पहुँचते ही 'मैं' की मृत्यु हो जाती है, उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। हमारे भय का मुख्य कारण उस 'मैं' की ही मृत्यु है। 'मैं' मरा कि संसार-बीज पर भी कुठाराघात हुआ।

जब संसार नहीं तो हम भी नहीं। और हमारा मस्तिष्क इस विचार में डूब जाता है तो पीछे भागना चाहता है समाधि से। सोचना है कि 'मैं' ही मर गया तो फिर रहेगा ही क्या ?

यदि हममें बुद्धि आ जाय तो हम समझ सकते हैं कि 'मैं से हमारा कोई सरोकार नहीं है। आज 'मैं' ने हमें अपने बन्धन में व्यर्थ डाला हुआ है। बस. इतनी समझ होने पर ही हम समझ सकते हैं समाधि का महत्व। हमें ज्ञान हो सकता है कि समाधि अभय रूप है, उसमें भय का नाम भी नहीं है। हम समाधि में जाते हैं तो भय-रहित हो जाते हैं और अधिकारी होते हैं उसे देखने के जो अजर है, अविनाशी है।

और आप यह भी समझ लीजिये कि समाधि में जाते हैं तो मैं को ही नहीं मारते, तू को भी मार देते हैं। जब मैं नहीं तो तू ही क्यों रहे ? और समाधि यह बहुत बड़ी उपलब्धि कराती है आपको कि जिनका अस्तित्व नहीं, उन्हें नष्ट कर देती है और आपको बोध कराती है उसका, जिसे आप अस्तित्वहीन समझते हुए थे अभी तक।

आप समाधि में जाते हैं तो दृष्टा और दृश्य से परे हो जाते हैं। आप खो देते हैं दोनों को ही, क्योंकि समाधि में ऐसा कुछ है ही नहीं जो भ्रम रूप हो। आप उसमें जितने प्रविष्ट होंगे शून्य में बढ़ते चले जाँयगे। जितने गहरे जाँयगे, उतना ही शुन्य बढ़ेगा और शून्य में जब आपका मैं भी शून्य बन जायगा तब आप साक्षी होंगे। आप मैं को मिटा कर साक्षी बन जाँयगे तो फिर आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी न रहेगा।

जब अधिक गहरे बढ़ेगे उस शून्य में तो अन्धकार का भी अभाव होने लगेगा। मैं मिटेगा, तू मिटेगा तो आवरण हट जायगा। वह आवरण, जो प्रकाश को ढके हुए था। आवरण हटता है अन्धकार से तो प्रकाश का दर्शन आवश्य भावी है। आप प्रकाश के दर्शन करते हैं तो परमात्मा के भी दर्शन करने लगते हैं।

किन्तु हम डरे हुए हैं 'समाधि' शब्द से। हमें भय है कि समाधि में हमें मृत्यु का वरण न करना पड़े। उस भय के कारण ही हम समाधि में जाने से डरते हैं। क्योंकि हम तो बचना चाहते हैं मृत्यु से। हम नहीं देखते कि जिसे हमने जीवन समझा हुआ है वह मृत्यु है जिसे मृत्यु समझा है, उसी में जीवन है।

हम जीवित के लिये नहीं, मृत्यु से बचने के लिये जीवित रहना चाहते हैं। एक बार एक महात्मा ने अपने अनुभव बताते हुए कहा था कि आरम्भ में, साधु बनने पर भी अपने 'मैं' का त्याग नहीं कर सका। गुरुजी ने कहा कि 'मैं को मार दो तो अमर हो जाओगे।' उस समय उनकी बात समझ में न आई। सोचा कि मैं तो मैं ही हूँ, क्या अपने को ही मार डालूँ? गुरुजी से पूछा तो वे बोले—'हाँ, अपने को ही मार डालो। अपनी भावना बनाओ कि मेरी मृत्यु हो जाय। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि आत्महत्या कर डालो। आत्महत्या के लिये तो मैं कहता ही नही। क्योंकि हत्या जिसकी होगी वह तो शरीर है। आत्मा की तो हत्या होनी नहीं है। और शरीर की आवश्यकता है आत्मोत्थान के लिये। उसकी आवश्यकता मरने से डरने के लिये नहीं है।

अब प्रश्न था कि भावना कैसे बने? सोचा कि मैं को मारना है तो हर समय मन में भाव रखना होगा कि मेरी मृत्यु हो जाय: क्योंकि जब तक मनुष्य ने 'मैं' में स्वयं को आरोपित कर रखा है तब तक मैं से सम्बन्धित सभी क्रियाओं का अवसान करना होगा। इसलिये यही सोचने लगा कि मेरी मृत्यु हो जाय।

किन्तु आश्चर्य, इस अभ्यास की लम्बी प्रतिक्रिया नहीं चली। एक रात्रि सहसा प्रतीत हुआ कि मैं का समापन हो गया है। लगा कि मैं तो एक आवरण मात्र था, उसके दूर होते ही स्व का आगमन हो गया। 'मैं' मर गया और 'स्व' आ गया। मैं गया तो शरीर भी एक बार तो

निश्चल हो गया। इसलिये यह भी अनुभव नहीं हो रहा था कि शरीर भी शेष रहा या नहीं।

उस समय अजीब अवस्था थी। श्वाँस कहाँ था, नहीं मालुम। हाथ-पांव गतिहीन-से ही हो रहे थे। मृत्यु में भी यही होता है—जब सब कुछ मर जाता है तब शरीर गतिहीन हो जाता है, श्वास-प्रश्वास का भी पता नहीं रहता। उस समय लगता है कि कहीं कुछ है ही नहीं। और यह अवस्था वही थी ओ मरण काल में होती है। मुझे लगा कि में अपनी मृत्यु को स्वयं ही देख रहा हूँ।

गुरुजी को दूसरे दिन सब बातें बताई तो वे बोले—'वत्स' यही चिह्न हैं मैं के मरने के। तेरा मैं मर गया है, इसलिये अब मृत्यु से भय नहीं रहेगा। अब तुम्हारा जीवन मरण से बचने के लिये नहीं होगा। किन्तु तुम्हारे कर्त्तव्य की इतिश्री यहीं तक नहीं हो जाती। अभी तो एक झलक दिखाई दी है मृत्यु की, इसलिये रुको मत, जितने बढ़ोगे उतने ही निर्भय होते जाओगे। जितने गहरे जाओगे उतना ही पता चलेगा कि अब तुम्हारा जीवन जीवन से भरपूर हो गया हैं।

'मैं' मरता है तो जीवन को जीवित कर देता है। मैं के जीवित रहते हुए 'स्व' की अवस्था मरे हुए के समान रहती है। आप 'स्व' को जीवत रखना चाहते हो तो 'मैं' की मृत्यु की आशंका न करो। इसके लिये मृत्यु की प्रक्रिया से गुजरना होगा और इस प्रक्रिया में जा सकते हैं समाधि के द्वारा।

मृत्यु का एक अर्थ है शरीर का अन्त–

जब तक हमारा भय नहीं मिटेगा, हम समाधि तक पहुँच ही नहीं सकेंगे। आप समाधि में जाना चाहते हैं तो अपने जीवन में ही मरने की कला सीखिये। आप समझ लीजिये कि सत्य है तो मृत्यु, और सभी को एक दिन उसका वरण करना होगा।

किन्तु जब हम मृत्यु को सत्य कहते हैं तो इसका अर्थ होता है शरीर का मरण। प्राण छोड़ देते हैं शरीर को तो वही मृत्यु बन जाती है। आपका जो डर है वह शरीर की मृत्यु से ही सम्बन्ध रखता है। आत्मा की मृत्यु का तो प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि आत्मा तो अविनाशी है, एकरस है, कभी भी मरता-जन्मता नहीं। उसकी अवस्था में भी परिवर्तन नहीं होता।

और इस आधार पर हम यह भी कह सकते हैं कि मृत्यु के समान कोई झूठ भी नहीं है। शरीर:पक्ष में मृत्यु सब से बड़ा सत्य है तो आत्मा-पक्ष में मृत्यु सब से बड़ा झूठ भी है। लोगों ने बार-बार मृत्यु की बात कर बहुत डरा दिया है मनुष्य को, इसीलिये वह उससे बचने का प्रयत्न करता है।

यदि आप अपने को धार्मिक कहे तो पहिले देख लें अपने को जो कहते हैं वह कितना ठीक है। शरीर का धर्म है मरना और हम उससे भयभीत रहते हुए भी अपने को धार्मिक कहते हैं। भला, कोई धर्म से डरे और धार्मिक भी कहलाये तो यह कितनी विरुद्ध बात होगी ?

किन्तु आप उस विरुद्ध बात से नहीं डरते। आप डरते हैं मृत्यु के नाम से। दूसरी ओर आप यह भी मानते हैं कि मृत्यु सत्य है। अब आप सोचिये कि जो सत्य है उससे डरना कैसा ? जब मरना होगा, तब डर कर तो उससे बच नहीं सकते।

और यदि मरना सत्य नहीं है तो कोई भी नहीं मार सकता आपको। किन्तु लोगों ने जो बात पुकार-पुकार कर कही है, वह गहरी बैठ गई है आपके मन में और यदि चाहें तो भी दूर नहीं हो पाती। यही कारण है कि आप समाधि में प्रवेश करने से घबराते है।

शरीर मरता है, इसलिये आप चिन्ता करते हैं कि हम मर न जाँय। किन्तु यह नहीं करते कि मरें तो शान से मरें। हम शान से जीना चाहते हैं, मरना क्यों नहीं चाहते ? यदि मरने की कला सीख लें

तो शान से मर सकते हैं।

एक बात और—आप मरने की कला सीख कर शान से मरने की ही तैयारी नहीं करते, अपने पूर्वजन्म के वृत्तान्तों को भी जान सकते हैं। उसके लिये हमें अपनी बेहोशी दूर करनी होगी। यदि हम होश पूर्वक मरने की तैयारी करें तो सहज ही बहुत-सी बातों का ज्ञान हमें हो सकता हैं।

होश पूर्वक तैयारी का अभिप्राय यही है कि इस शरीर का अन्त तो अवश्यभावी है। इसलिये इसके नष्ट होने की चिन्ता ही कैसी ? जो होना ही है, उसकी चिन्ता से कोई कार्य बनने वाला नहीं है। यदि उसकी चिन्ता न करके उसके स्वागत के लिये तैयार रहा जाय तो हो सकता है कि मरण काल में किसी कष्ट का सामना न करना पड़े।

कुछ दृढ़ प्रतिज्ञ पुरुषों के मुख पर अन्त काल में भी मुसकान देखी जाती है। विषाक का कोई चिह्न ही दिखाई नहीं देता उस समय। मरने पर भी उनका शव देखकर प्रतीत होता है कि यह प्रसन्न मुद्रा में हैं। उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन व्यक्तियों को मरने का कोई भय नहीं रहा होगा और यह भी सम्भव है कि उन्होंने उस क्षण को कोई अनिष्टकारी क्षण न माना हो।

कुछ लोग तो अपने मरण की सम्भावित तिथि तक बता देते हैं बहुत पहिले से ही। उसका कारण उनका अधिक सजग होना है। जब तक आप अचेतन के अधिक आश्रित रहते हैं, तब तक आप में वैसी सजगता नहीं आ सकती। किन्तु जब आप अपने चेतन मन को अधिक सजग, अधिक स्थिर बना लेते हैं तब आपको बहुत-सी बातों का ज्ञान हो सकता है।

चेतन की अधिक सजगता आपकी स्मरण शक्ति तीव्र कर सकती है। सम्भव है कि आप एक बार जिस विषय से साक्षात्कार कर लें, एक बार किसी लेख को पढ लें तो भूल न पावें उसे। यह भी सम्भव

है कि अतीत की भूली बिसरी बातों का भी पुनः स्मरण होने लगे। यह भी संभव है कि आपको पूर्वजन्म की भी स्मृति होने लगे। यह भी सम्भव है कि भविष्य की बातों का ज्ञान भी होने लगे आपको।

कहते हैं कि प्राचीन ऋषि-मुनि त्रिकाल दर्शी होते थे। वे भूतकाल की बातों को ऐसे बता देते थे, जैसे वर्तमान में प्रत्यक्ष देख रहे हो। भविष्य भी उनसे छिपा नहीं था। उनका अतीन्द्रिय ज्ञान बहुत-से छिपे हुए रहस्यों को खोल देता था।

भूत, भविष्य का ज्ञान आपसे भी दूर नहीं है। आपके अचेतन पर अतीत की तस्वीर तो पहिले से ही बनी हुई है। भविष्य का भी चित्रांकन रहता है, कुछ धुँधले रूप में। उस चित्रांकन का आधार भी अतीत से पता चल जाता था कि भविष्य में क्या होना है? क्योंकि अतीत और वर्तमान के क्रिया कलापों पर ही भविष्य की निर्भरता है।

त्रिकालज्ञ अचेतन पटल–

यद्यपि भूत, भविष्य दोनों आपके अचेतन पटल पर विद्यमान है किन्तु आप उनके विषय में नहीं जानते। क्यों नहीं जानते? इस शंका का समाधान कुछ कठिन नहीं है। मन की तीन परतें हैं— चेतन, अर्द्ध-चेतन और अचेतन। आपके अतीत का इतिहास लिखा है उस पर, आपके भविष्य की भी रूप रेखा है उस पर। आपका सम्बन्ध भी है उससे, क्योंकि वह आपके मन का ही एक स्तर है। किन्तु बीच में अर्द्ध-चेतन की दीवाल ने उसे पीछे धकेल दिया है। अर्द्धचेतन ने उस पर इसलिये पर्दा डाल रखा है कि कहीं आप अधिक पीछे न चले जाँय। क्योंकि अधिक पीछे का इतिहास आपको विमोहित कर सकता, व्याकुल कर सकता है। आप व्यग्र हो सकते हैं विगत जन्मों के भोगों के प्रत्यक्ष होने पर, आपको मोह हो सकता है विगत जन्मों के पुत्र, पत्नी आदि परिवारीजनों को देख कर। और सम्भव है कि आप सचाई जानने के

लिये खोज करने लगें उन परिवारों की, जिनसे आपका सम्बन्ध रहा हो। और आपकी वह खोज अधिक भ्रमित करने वाली बन जाय।

उस प्रकार के ज्ञान से सामाजिक ढाँचे में भी कुछ व्यवधान उपस्थित हो सकता है। मान लीजिये कि कोई बालक अपने पिछले जन्म की याद करके उन परिवारीजनों से मिले तो उस परिवार में अधिक मोह और शोक की लहर दौड़ सकती है। मान लीजिये कि कोई बूढ़ी माता है, उसके पुत्र को मृत्यु हुई है, और वह बालक उससे कहे कि मैं ही तेरा पुत्र था तो क्या दशा होगी उसकी ? मान लीजिये कि उसकी युवा पत्नी थी, वह बालक रूप में पुनर्जन्म प्राप्त अपने पति को देखे तो क्या मनःस्थिति बनेगी उसकी ?

और हमने जो पुनर्जन्म की यह बात कही है, वह कोरी कल्पना नही है। ऐसी घटनाएँ अखबारों में पढ़ने को मिलती हैं समय-समय पर। एक घटना तो ऐसी सुनी गई कि जिसमें दो परिवारों में झगड़े की ही नौबत आ गई। पूर्व जन्म का परिवार उस पर अपना अधिकार चाहता था और वर्तमान जन्म के परिवार का तो उस पर अधिकार था ही। पूर्वजन्म की पत्नी चाहती थी कि वह मेरे पास ही रहने लगे, किन्तु ऐसा संभव ही न था। उसमें बाधा थी आयु की, जाति की और पारिवारिक बन्धन की। और यदि ऐसी घटना प्रकाश में आ जाती है तो उससे अधिक कष्ट की संभावना हो सकती है।

शायद प्रकृति जानती है इन तथ्यों को और इसीलिये उसने यह व्यवस्था की हुई है कि आपकी स्मृतियों का अंकन तो रहे, किन्तु आप स्वयं उससे अनजान बने रहें। अर्द्ध चेतन दीवाल इसीलिये खड़ी की गई है उसके द्वारा। कुछ अनुभूतियाँ, जब कभी अर्द्ध चेतन स्तर को भेद कर चेतन पर आ जाती हैं, तब वे आपके लिये चौंकाने वाली बन जाती हैं। आप उस समय जो अनुभव करते हैं वे विचित्र होते है। आपकी समझ में नहीं आ पाता कि उन अनुभवों का कारण क्या है ?

कभी-कभी नींद में होते हैं तब भी बहुत-सी अद्‌भुत बातें दिखाई देती हैं स्वप्न रूप में। आप सोते-सोते सपने देखने लगते हैं। उस समय आपको लगता है कि जो कुछ हो रहा है, वह सही है। यदि भयावना दृश्य है तो आपको डरा देता है। कभी आप थर थर काँपते हैं, कभी रक्षा के उद्‌देश्य से भागते है। कभी कारावास में पड़े होते हैं। कभी जंगलों—पर्वतों पर घूमते होते हैं। कभी आमोद-प्रमोद में लगे होते हैं।

स्वप्न क्या है–

आप स्वप्न देखते हैं तो वह भी अचेतन की ही करामात है। स्वप्न देखते हैं उस समय नींद नहीं होती आपको। नींद तो स्वप्न से भिन्न भिन्न वस्तु है। आवश्यक नहीं कि स्वप्न नींद में ही दिखाई दे। जागते हुए भी आने लगते हैं स्वप्न। किन्तु मजा यह कि नीद में स्वप्न दिखाई देता है तब सुषुप्ति नहीं रहती और जागते हुए दिखाई देता है तब जागृति नहीं रहती। स्वप्नद्दष्टा चाहे नीद में हो चाहे जागृति में, उसे होश नहीं रहता दोनों ही अवस्थाओं में।

और वैज्ञानिकों ने भी खोज की है इस स्थिति की। वे जानना चाहते हैं कि स्वप्न के न रहने पर जो स्थिति रहती है, वह क्या है ? फ्रायड का मत है कि स्वप्न सहायक होता है नींद में। स्वप्न दिखाई न दे तो नींद ही न आये। उसके विचार में स्वप्न उन इच्छाओं की पूर्ति मात्र है, जिनको जाग्रत अवस्था में पूर्ण नहीं किया जा सका। एडलर के विचार में दमन की हुई वृत्तियों की तृप्ति का प्रयास मात्र है स्वप्न। युग कहता है कि स्वप्न किसी एक मूल प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति नहीं। वरन् सामान्य जीवन शक्ति की ही अभिव्यक्ति है जो भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों, भिन्न-भिन्न दृश्यों के रूप में व्यक्त होती है।

दिवा स्वप्न, जो जागे हुए देखे जाते हैं, मानव कल्पना के ही रूप

समझे गये हैं। वुडवर्थ के मत में उसमें भविष्य की योजना निहित रहती है। वह कहता है कि एक दिवा स्वप्न भविष्य की सम्भावित योजना बनाता है। वह भी ऐसी योजना जो केवल कल्पना पर आधारित हो। एडलर के मत में दिवास्वप्न के द्वारा मनुष्य की स्वस्थापन (सेल्फ एसर्शन) की इच्छाएँ परितुष्ट होती हैं।

वैज्ञानिकों ने स्वप्नो के विषय में यन्त्रों से परीक्षण किये हैं। स्वप्न चलते हैं तब तक का लेखा-जोंखा तो बताते हैं यन्त्र, किन्तु जब स्वप्न दिखाई नहीं देते और मनुष्य गहरी नींद में होता है, तब वे यन्त्र कुछ भी नही बताते। इसका अभिप्राय है कि स्वप्न विहीन निद्रा को पकड़ ही नहीं पाते यन्त्र। इसीलिये अमेरिकन वैज्ञानिकों ने निद्रा को मनुष्य की एह अत्यन्त रहस्य पूण स्थिति मानी है।

आप कह सकते हैं कि हमारे ग्रन्थ तो लाखों वर्षों से सुषुप्ति के विषय में कहते आये हैं। किन्तु उन्होंने भी यह स्पष्ट नहीं किया कि जब प्राणी सोता है प्रगाढ़ निद्रा में तो कहाँ होता है ? क्या करता है ? आप नित्य प्रति सोते हैं, जन्म से ही सोते चले आ रहे हैं, किन्तु क्या अभी तक यह जान सके हैं कि नींद में आप कहाँ होते हैं ? क्या करते रहते हैं उस समय ?

और वैज्ञानिकों का यन्त्र भी सुषुप्ति के उस अन्तराल को बताने में मौन हो जाता है। अभी वैज्ञानिको की समझ में ही नहीं आ रहा है नींद का रहस्य। वे उतना ही पता लगा सके हैं, जितना यन्त्र लगा सका है। आप स्वयं भी उससे अधिक कुछ नहीं जानते।

एक मजे की बात और है कि आप दम्भ में होते हैं तो नीद कम आती है। आप कहते हैं कि चिन्ता के कारण नींद भी नहीं आती। उसके लिये कुछ लोग तो नींद की गोलियों का भी सेवन करते हैं। किन्तु उनकी भी आदत पड़ जाती है तो अफीम के समान पीछे लग सकती है। जब तक गोली नहीं लेते तब तक नींद नहीं आती फिर तो

आप गोली की नींद में पड़े होते हैं तब भी आपका अहंकार उससे निकल भागने का प्रयत्न करता हैं। आप अहंकार कम करते जाते हैं तो नींद का अन्तराल बढ़ जाता है। उस स्थिति में आपको नींद की गोली की आवश्यकता नहीं रहती।

यह सब बातें नींद की स्थिति के सम्बन्ध में तो रहीं, किन्तु उसके रूप पर प्रकाश नहीं डालती। नीद पहिले भी रहस्य बनी हुई थी, आज भी रहस्य बनी हुई है। इसका रहस्य उसी प्रकार बना हुआ है, जैसे परमात्मा का रहस्य बना हुआ है। परमात्मा कहाँ है ? क्या है ? कैसा है? यह सभी रहस्य है। उससे छोटा रहस्य है निद्रा, जिसके विषय में अभी कुछ जाना नहीं जा सका है

आप नींद में जाते हैं तो अपने को भुला देते हैं। उस समय 'मैं' नहीं रहता है आपके पास। आप समाधि में जाते हैं तो भी अपने को भुला देते हैं। उस समय भी आपके पास न तो 'मैं' रहता है, न 'तू' ही। जहाँ मैं और तू का अभाव हो जाय वहीं परमात्मा की प्राप्ति का सुयोग मिल सका हैं।

किन्तु यदि आप अपने चेतन को अधिक सजग बना लेते हैं तो नींद में सचेत रह सकते हैं। आप नींद में सोते अवश्य हैं, किन्तु बहुत कुछ सचेत रहते है। गीता में कृष्ण ने स्पष्ट कहा है इस विषय में कि विश्व के सभी प्राणी नींद सोते हैं, किन्तु योगी पुरुष तब भी जागता रहता है। इसका अर्थ लगाना भी समझ से ही होगा। सीधी-सादी बात नहीं है यह। कृष्ण यह नहीं कहते कि योगी सोता ही नहीं। योगी सोता है, ठीक प्रकार से, आपसे भी अच्छी तरह। क्योंकि आप सोते भी हैं तो अपनी चौकीदार पर मैं को छोड़ देते हैं। आपकी निद्रा भी बोझिल रहतीं है, अनेक चिन्ताओं से। किन्तु योगी को कोई चिन्ता नहीं होती। न अपनी, न परिवार की ही। अपनी इसलिये नहीं कि वह जानता है कि शरीर का तो अन्त होना ही है, इसकी चिन्ता तो की ही क्यों जाय ?

और परिवार तो समस्त संसार हैं। 'वसुधैव कुटुम्बक' का सिद्धान्त अपनाया हुआ है उसने।

इसलिये योगी को निद्रा भी अच्छी आनी चाहिये। आती भी हैं उसे, वह सोता है मजे में, किन्तु नींद की गहराई में भी उसका मन जाग्रत रहता है। वह भी नित्य प्रति सोता है जन सामान्य के समान, किन्तु सचेत रहता है फिर भी। इसलिये उसके लिये तो जैसी निद्रा, वैसी ही समाधि। वह नींद में भी भगवान् को पा सकता है और समाधि में भी।

इस प्रकार सामान्य मनुष्य की नींद योगी पुरुष की नींद से पृथक् प्रकार की होती है। आप सोते हैं तो अचेत रहते हैं या स्वप्न देखते हैं। स्वप्न की यह स्थिति दिन में भी हो सकती है आपके लिये। जबकि योगी सोता हुआ भी सजग रहता है। उसे नींद में भी चेतना रहती है और समाधि में भी।

नींद में जीवन, स्वप्न में भय—

इसलिये अपने मन को सजग रखने का अभ्यास कीजिये। आप नींद में हों तब भी इतने गहरे न डूबिये कि पता ही न चल सकें कि आप कहाँ हैं। समाधि में भी प्रयत्न कीजिये कि आप उतने बेखबर न रहें कि परमात्मा के दर्शन भी न कर सकें। आप नींद में रहते हैं तो आपकी स्थिति शून्यवत रहती है। अर्थात् वह स्थिति रहती है आपकी जैसे मिट चुके हैं, जैसे खो चुके हैं अपने को। किन्तु वह मिटना 'मैं' का ही होता है, 'स्व' का नहीं। आप नींद में 'मैं' को छोड़े हुए होते हैं, किन्तु 'स्व' आपके पास रहता है। समाधि के शून्य में भी आपके पास 'मैं' नहीं रहता। जो रहता है वह 'स्व' अथवा परमात्मा ही रहता है।

इसीलिये हम कहते हैं कि आप नीद में जाते हैं तो भी जीवित रहते हैं। स्वप्न में आप भयभीत हो सकते है। स्वप्न में आपको मृत्यु जैसी

परिस्थितियों का सामना करना पड़ सकता है। किन्तु नींद में आपको वैसी किसी भी स्थिति में नहीं होना पड़ता। आप सोते हैं तो भय, शोक, रोग, चिन्ता, कुछ भी नहीं रहती आपके पास। आप समाधि में जाते हैं तो भी भयादि से बचे रहते हैं। समाधि आपको निर्भय बनाती है और अमरत्व के दर्शन करा देती है।

समाधि में नहीं जाते तो मैं को पाले रह सकते हैं। नींद में नहीं होते तब भीं वही स्थिति होती है आपकी। आप जो देखते, सुनते हैं, उसी में रमे रहते हैं। बहुत-सी बातें तो ऐसी होती हैं, जिनका निर्माण आपकी ही कल्पना से हुआ होता है।' आपने मन में कुछ सोचा कि वही साकार हो गया। किन्तु जब वह साकार हो जाता है तब मिटने में नहीं आता। क्योंकि जिसे हमने ही बनाया, हमने ही खड़ा किया, हमने ही सेवा की कल्पना की जिसकी, वह मिटे कैसे ? एक बार परमहंस राम-कृष्ण के विषय में भी ऐसी ही घटना का उल्लेख किया जाता रहा है।

परमहंस काली के परम भक्त थे। उन्होंने जीवन के अधिकांश भाग में काली की ही सेवा की थी। किन्तु एक समय ऐसा आया जब उन्हें उससे कोई सन्तोष नहीं हुआ। तभी उनकी भेंट एक सन्यासी से हुई। उसने बताया कि यह सब व्यर्थ है, जिसे तुम पाले हुए हो। यदि पर-मात्मा को प्राप्त करना है तो काली-वाली के चक्कर को छोड़ो।' राम-कृष्ण के मन मैं तो उतरी उसकी बात; किन्तु जीवन भर उपासना करते रहे उसकी तो अब उसे कैसे छोड़े ?

बहुत सोचने के बाद उन्होंने कहा—'काली तो बसी है हृदय में, अब कैसे छूटे ?' सन्यासी ने कहा—'तलवार से दो खण्ड कर दो उसके। जिस कल्पना से काली को बनाया—सँवारा है उसी कल्पना की तलवार से काट डालो उसे।' रामकृष्ण ने बहुत प्रयत्न किया और अन्त में सफलता मिली उन्हें तो काली के दो टूक हो गये थे मानसिक रूप से। प्रत्यक्ष का तो इसमें प्रश्न ही न था। क्योंकि काली भी कल्पना

जन्य थी और तलवार भी कल्पनाजन्य थी। अब रामकृष्ण का हृदय काली से मुक्त हो चुका था।

आपने हृदय में जो कुछ सँजोया हुआ है, वह प्रयत्न से ही हटेगा। जीवन में अपनाया हुआ झूठ, बड़ी कठिनाई से सत्य को स्थान देता है। कोई कहे किसी रोगी से कि तुम्हें ठीक दवा नहीं मिल रही है तो रोगी चिन्तातुर हो उठेगा। कैसी भी अच्छी दवा हो अविश्वास के विना काम नहीं करतीं।

लोगों में एक आदत मिलती है कि जब अधिक दिनों में किसी को देखते हैं तो उससे कहते हैं कि 'बड़े दुबले हो गये हो, क्या होगया है तुम्हें? क्या कोई बीमारी है?' और वह सोचता कि अवश्य में कमजोर हो गया हूँ, हो सकता है कि कोई रोग ही हो।' मजे की बात यह कि कुछ हमदर्द तो उस भले चंगे मनुष्य को डाक्टर के पास जाने की सलाह भी दे देते हैं।

किसी बीमार से कहो कि 'तुम अब ठीक हो रहे हो, इससे लगता है कि जल्दी ही रोग-मुक्त हो जाओगे।' इसका प्रभाव उस पर बहुत अच्छा पड़ेगा। किन्तु समाज की विचित्रता देखो कि कुछ लोग ऐसा कहने पर भी बुरा मानते हैं। उनका विचार है कि इससे टोक लग जाती है और ठीक होता हुआ रोग फिर से ठहर जाता है।

किसी व्यक्ति के पाँव पर होकर सर्प गुजर जाये और आप कह दें कि अरे तुझें तो साँप ने काट लियां। बस उसके बाद उसकी दशा देखो। उसे विश्वास हो जायगा कि साँप ने डस लिया है और लगेगा कि जहर चढ़ता जा रहा है। कुछ घटनाएँ सुनने में भी आई हैं कि साँप ने काटा नहीं, केवल छू भर लिया, तो भी उसने काटे जाने का विश्वास कर लिया। मजा यह है कि उस विश्वास का प्रतिकूल फल हुआ और उपाय करने पर भी उसकी प्राण रक्षा नही हो सकी।

किसी के पेट में जहर का कोई अंश पहुंच गया हो किसी प्रकार,

और उसे यह मालुम हो जाय कि मुझे जहर दे दिया गया है तो सम्भव है कि वह उसी भ्रम में मारा जाय। यदि अकारण ही किसी को जहर दिये जाने का, सूर्य-दश का, रोगोत्पत्ति का वहम हो जाय तो उसके ठीक होने में बाधा उपस्थित हो सकती है।

रोग का आरोपण अधिकांश भ्रम–

शायद आप विश्वास न करें। हम अपने शरीर में रोग का जो आरोप कर लेते हैं वह पूर्ण रूप से सही नहीं होता। लगभग साठ-सत्तर प्रतिशत बीमारियाँ मिथ्या होती है। उन्हें हमारे मन ने ही उत्पन्न किया होता है। संसार में रोगों कीं सख्यां बढ़ती जा रही है आये दिन। क्योंकि हम स्वयं ही आविष्कार कर रहे हैं उनका। मान लीजिये कि मलेरिया ज्वर है, उसमें कुछ विशेष लक्षण दिखाई दिये तो उसका नाम कुछ और रख दिया। यद्यपि वह ज्वर कोई नया नहीं है: उसमें लक्षण की भिन्नता भी उसकी गम्भीरता व्यक्त नहीं करती तो भी रोगी उस नये नाम की बीमारी को सुन कर घबरा जाता है।

तो हम कहते हैं कि बीमारियां नई उत्पन्न हुई नहीं है: हमने स्वयं उत्पन्न कर दी है। जितना ही अधिक निरीक्षण-परीक्षण किया गया है उनका, उतनी ही वृद्धि हुई उनकी संख्या में। वेचारे निरीक्षण-परीक्षण करने वाले क्या करें ? खाली बैठे है तो कुछ तो करना ही होगा उन्हें। सरकार भी वेरोजगारों की बढ़ती देख कर दबाव के वश में नये विभाग खोलती और लोगों को काम पर लगाती है, चाहे वह विभाग किसी प्रकार अधिक उपयोगी सिद्ध न हों और चाहे उससे घाटा ही क्यों न उठाना पड़े।

यदि किसी विभाग से किसी का कोई लाभ न हो तो समझलो कि उसे विवश होकर खोलना पड़ा है। इसी प्रकार यदि कोई रोग किसी दवा से ठीक न हो तो समझलो कि वह रोग दवा से ठीक होने वाला

नहीं है। और जो रोग दवा से ठीक न हो, वह रोग कैसा ? शायद वह रोग ही न हो, शायद उस रोग को रोगी ने स्वयं बना लिया हो।

बहुत से नाजुक तबियत के मनुष्य आये दिन घोषित करते रहते हैं अपना बीमार होना। कुछ लोग दूसरों की हमदर्दी प्राप्त करने के लिये रोगी बने रहते हैं तो कुछ लोग अपनी थोड़ी-सी अस्वस्थता को बहुत बढ़ा चढ़ा कर बताते है। शायद इसलिये कि दूसरों को भुलावे में डाला जा सके। शायद इसलिये कि किसी को कुछ कहना है तो रोगी समझ कर न कह सके।

और यह सब मन की कल्पना ही है जो हमें रोगी, सशंकित, दुखि:त एवं भयभीत बनाये हुए है। यह जितनी भी उपज है, मैं की ही है। हम 'मैं' के रहते हुए भी धार्मिक और सत्यनिष्ठ बने रहना चाहते हैं। किन्तु वैसा हो नहीं सकता। 'मैं' जायेगा तभी आप बन सकेंगे धार्मिक, तभी हो सकेंगे सत्यनिष्ठ।

संसार में समाधि-सिद्ध भी अब अनेक बन गये हैं। उन्होंने उस प्रकार का अभ्यास कर लिया है कि कई दिनों तक निरन्तर समाधि में रहने का प्रदर्शन कर सकें। लोग उनके प्रदर्शन को देखकर आश्चर्य चकित होते और उनकी प्रशंसा करते है। किन्तु क्या वे वास्तव में समाधि -सिद्ध हैं ? शायद आप 'हां' कहें किन्तु 'हाँ' वे नहीं कह सकते जो जानते हैं कि समाधि उसे सिद्ध हो सकती है, जिसे मरने से डर न हो, जो मृत्यु को वरण करने के लिये सब प्रकार से तैयार हो। हम जब तक डरते रहेंगे मृत्यु से तब तक असली समाधि में प्रवेश नहीं कर सकते।

संन्यास लेने वाले बहुत-से दिखाई देते है। उन्होंने अनुयायियों की भीड़ भी खड़ी कर ली है। किन्तु मजा यह कि मरने को भय उन्हें भी व्यथित किये हुए है। वे भी घबराते हैं मरने से। वस्तुत: संन्यास का अधिकारी तो वही होना चाहिये जो स्वयं को सहर्ष प्रस्तुत कर सके

मृत्यु के समक्ष। वह मृत्यु को अभिशाप नहीं, वरदान समझे। क्योंकि मृत्यु को वरदान मानकर वरण करने वाला ही अमर हो जाता है।

संन्यासी चलता है अमृतत्व की खोज में। जहाँ परमात्मा है वहीं अमृतत्व है। यदि हम अमृतत्व की खोज में बढ़ें तो सफलता तभी मिलेगी जब हम मृत्यु को खोज लेंगे। मृत्यु को खोजे बिना अमृतत्व कैसा? आपको परमात्मा के मन्दिर में प्रविष्ट होना है तो द्वार पर पहुँचना ही होगा। और परमात्मा ने अपने द्वार पर बैठाया हुआ है यमराज, जो मृत्यु का स्वामी है, जिसके अनुशासन में रहती है मृत्यु। परमात्मा का द्वार मृत्यु-द्वार है, किन्तु उस द्वार के भीतर जो जीवन है, वह दिव्य है। इतना दिव्य कि इन चर्मचक्षुओं से नहीं देखा जा सकता।

और हम घबराते हैं यमराज से। समझते हैं कि वह हमारे लिये दण्ड का विधान करने वाला है। पता नहीं, वहां पहुँचने पर उसका कैसा व्यवहार हो हमारे प्रति? पता नही, वह हमें किस योनि में या किस नरक में डालने का आदेश दे दें।

नरक क्या है ?—

आप जिस द्वार पर यमराज को देखते है, वहां से दूर भागना चाहते है इसी डर से कि इसके चंगुल में फँसे कि नरक में पहुँचे। इस विचार ने आपको और भी भयाकुल कर दिया है। क्योंकि नरक के जिन कष्टों की चर्चा की जाती है, उन्हें सुन-पढ़ कर मनुष्य काँपने लगता है।

किन्तु नरक है क्या? किसने बनाया? इस पर ध्यान नहीं दिया है आपने। नरक है वह भयंकर बोझा जो आपने स्वयं ही उठाकर अपने ऊपर लाद लिया है। और यह मानना होगा कि जिस बोझे को हमने ही लादा है अपने ऊपर वह हमारे लिये दबाने वाला सिद्ध हो रहा है। हम

उसके नीचे दबते चले जा रहे हैं और कल्पना करते है कि यदि इससे भी भारी बोझ रख दिया जाय हमारे ऊपर तब ? तब क्या हम पिचकर मर नहीं जांयगे ? और उसी कल्पना ने आगे बढ़कर नरक बना कर खड़ा कर दिया है हमारे सामने। तो इसका अर्थ हुआ कि अपने लिये नरक का निर्माण करने वाले हम स्वयं है।

आप नरक से बचना चाहते है तो स्वयं को सँभालिये और बचिये पापों का बोझ अपने ऊपर रखने से। वह कार्य कीजिये जो धर्म की परिधि में आते हों। अधर्म की परिधि में आने वाले कार्य ही नरक का निर्माण करते हैं।

और स्वर्ग ? क्या है स्वर्ग ? किसने बनाया है स्वर्ग को ? क्या वह भी आपकी अपनी ही रचना नहीं है ? आप कल्पना करते हैं भौतिक सुख की और आप की कल्पना ही उस सुख को भौतिक से दिव्य बना देती है। आशा कहती है कि स्वर्ग सुख अवश्य मिलेगा, क्योंकि शुभ कर्म करने से मनुष्य उसका अधिकारी बन जाता है। याज्ञिक कहते हैं कि यज्ञ करो और स्वर्ग में जाओ। जापक कहते है कि स्वर्ग में जाना चाहते हो तो जप करो। योगी कहते हैं कि स्वर्ग प्राप्ति का साधन योग ही है। इस प्रकार मनुष्य के मन में स्वर्ग सुख की आकांक्षा उत्पन्न कर दी गई है।

उस आकांक्षा का उदय भी तभी होता है जब नरक का भय उत्पन्न हो जाता है। नरक के डर से ही लोग स्वयं की कामना करते है, अन्यथा उन्हे ध्यान भी न हो इस बात का कि स्वर्ग नाम का कोई लोक है भी ससार में ? और शायद स्वर्ग कहीं है भी नही। है तो पृथ्वी पर ही किन्तु नरक से डरे हुए लोग उसे यहाँ भी खोजने से वंचित रह जाते हैं।

यह डर कुछ नया नहीं है। न जाने कब से डरता रहा है मनुष्य उस यमराज से। यदि हम कहें कि मनुष्य डरता नही रहा, डराया

जाता रहा है। और डराने की यह करामत उन लोगों की रही है जो अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते थे समाज पर। वे नहीं चाहते थे कि कोई अमृत का पौधा फल-फूल कर अपनी अद्‌भुत सुगन्ध से लोगों के मन-प्राणों को प्रफुल्लित करता रहे।

इसलिये उन्होंने भगवान के जो नये-नये मन्दिर खड़े किये, उनके विषय में कहा गया कि भगवान् इन्हीं में विराजमान हैं। जितने मन्दिर स्थापित हुए उतने ही भगवान् हो गये। किन्तु हमें भगवान् से अधिक चिन्ता उन्हीं की है जो अपना-अपना प्रभुत्व बनाये रखना चाहते हैं। क्योंकि उन्होंने अपने को त्यागी घोषित किया हुआ है। भक्तगण समझते हैं कि हमें कुछ प्राप्त हो भी सकता है तो इन त्यागियों के द्वारा ही हो सकता है। प्रतिभा रूपी भगवान् के वे प्रतीक इन्हीं से वार्तालाप कर सकते है, हमसे नही।

और आप भगवान् को पूजा करते हैं कामना सिद्धि के लिये। आप को विश्वास है कि हम इन्हें पूजेंगे तो शोक से, संकट से, रोग से और मृत्यु से बचे रहेंगे। इस सब में मृत्यु से बचे रहना ही मुख्य उद्देश्य है। आप गृहस्थी हैं, बहुत-सी चिन्ताएँ हैं आपके साथ। शायद आप जानते हों कि गृहस्थ जीवन में चिन्ता की विभीषिका चिता से भी अधिक होती है। फिर गृहस्थ ही क्यों, जो लोग घर छोड़ कर विरागी बन गये है, उनमें चिन्ता की स्थिति गृहस्थों से भी अधिक पाई जाती है।

शरीर को जब तक रहना है रहेगा। उसकी समाप्ति का समय भी पहिले से ही निश्चित है। मर्त्यलोक भोग भूमि है, जिसमें कर्मों का भोग भोगना ही होगा। और भोग के पश्चात यहाँ से जाना भी अनिवार्य है, इसीलिये इस लोक का नाम मर्त्यलोक रखा गया है। यदि आप इन तथ्यों को समझ लें और स्थिर बुद्धि से काम लें तो हो सकता है कि आपको मृत्यु से डर न लगे। यदि आपने मृत्यु से डरना छोड़ दिया तो वह समय दूर नहीं, जब आप आत्म-साक्षात्कार का अधिकार प्राप्त

करलें और दिव्य-दर्शन का सुयोग उपस्थित हो जाय आप के समक्ष। मृत्यु-भय का त्याग है 'मैं' रहित जीवन का आरम्भ है। उसी से परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं।



मिटना ही आत्मदर्शन का साधन है

प्रेम और आनन्द का तादात्म्य--

आप परमात्मा को खोजना चाहते हैं तो पहिले अपने को खोजो। अभी तो आपको यह भी पता नहीं कि आप स्वयं भी कहाँ हैं ? क्या स्वरूप है आपका ? स्वयं को खोजने के लिए आपको अपना आचरण ठीक करना होगा। आपको देखना होगा कि कहीं कोई त्रुटि तो नहीं है। आपका आचरण पवित्र होगा तो हृदय में प्रेम भर जायगा। और परमात्मा तो प्रेम स्वरूप है ही। क्योंकि परमात्मा की प्राप्ति उसी को हो सकती है जो प्रेम से सम्पन्न हो चुका हो।

प्रेम है तो ही आनन्द होगा। प्रेम और आनन्द का परस्पर में बहुत गहरा सम्बन्ध है। इतना गहरा कि वे दोनों ही अभेद है। जो प्रेम है वही आनन्द है। आत्मा का स्पर्श प्रेम ही कर सकता है। वहीं आनन्द है और वहीं परमात्मा है। आप अपने आचरण को शुद्ध कर लेते हैं तो आत्मा को प्राप्त हो सकते हैं। यदि आत्मा को प्राप्त हो गये तो परमात्मा की भी प्राप्ति हो गई।

हृदय में प्रेम-रस की सरिता बहती है। उसका अनुभव आपको कैसे हो ? हृदय तक पहुँचने के लिये गहरा उतरना होगा। जितने ऊपर रहेंगे उतने ही उस रस के स्पर्श से वंचित रहेंगे। इसीलिये योगीजन

कहते हैं कि ध्यान करो । ध्यान करोगे तो ही भीतर प्रविष्ट हो सकोगे।

और यह आवश्यक नहीं कि ध्यान के लिये आप गृहस्थ जीवन का त्याग कर दें । त्याग गृहस्थ का करने से लाभ नहीं, वरन् लाभकारी त्याग होगा द्वेष का, अपने को उच्च और दूसरों को नीचा मानने का। आप घर में रह कर भी किससे, कितना प्रेम करते है ? किससे कितना लगाव है आपका सच्चे रूप में ?

हृदय पर हाथ रखकर उसी से इन प्रश्नों के उत्तर मांगिये । यदि तात्विक दृष्टि से देखेंगे तो आपको प्रतीत होगा कि दाम्पत्य जीवन में भी तनाव चल रहा है । उसमें प्रेम की कमी है । पत्नी कुछ सोचती है तो आप कुछ सोचते हैं । किन्तु कौन भ्रान्त हैं, यह नहीं कहा जा सकता सम्भव है कि पत्नी भ्रान्ति में हो । यह भी सम्भव है कि स्वयं आप ही भ्रान्त हो रहे हो । बहुत से गृहस्थों में तो लगता है कि पति-पत्नी दोनों ही भ्रान्ति में पड़े हैं और अड़े हुए हैं अपनी-अपनी बात पर।

एक अड़ता है तो दूसरा भी अड़ेगा ही। आप अड़ते हैं तो पत्नी विद्रोह कर सकती है । पत्नी अड़ती है तो आप विद्रोह कर सकते हैं। इस प्रकार आज जो दाम्पत्य जीवन जिया जा रहा है, उसमें विद्रोह ही विद्रोह भरा है । जब विद्रोह है तो प्रेम कहाँ से आये । क्योंकि यह दोनों ही एक-दूसरे के विजातीय हैं ।

किन्तु प्रेम और अध्यात्म में सजातीयता है । अध्यात्म मार्ग पर वही चल सकता है, जिसका हृदय प्रेम-रस से ओत प्रोत हो। जो लोग कहते हैं कि हम अध्यात्म की ओर जा रहे है, वे शायद ही जा रहे हो उधर । क्योंकि उनमें जो प्रेम रूप से विद्यमान है वह यथार्थ में प्रेम नहीं, वासनामय प्रेम है । वह हृदय उस बोतल के समान हैं, जिसमें भरा तो वही हो, किन्तु लेबिल नया लगा दिया हो नाम बदल कर।

नाम बदलता है और नया लेबिल लगता है तो भ्रान्त होना भी

स्वाभाविक है। किसी सोने के घड़े को विष से भर कर रखदें तो सोने का आकर्षण अवश्य खींचेगा मनुष्य को। आप सोचेंगे कि यह घड़ा सोने का है, भारी भी होगा ही और बहुमूल्य भी। इस महगांई के युग में सोने के भाव आकाश को छूरहे है। आज से चालीस-पचास वर्ष पूर्व जो सोना बीस-पच्चीस रुपये का तोले भर बिकता था, वही आज डेढ़ हजार रुपया प्रति तोला से भी बहुत आगे बढ़ गया है।

वही सोने का घड़ा, जो इतना बहुमूल्य है, उसमें यदि विष भर दिया जाय तो ? तो कौन समझेगा कि इस घड़े में जहर भरा हुआ है। उस पर भी यदि कोई अमृत शब्द लिखदें तो आप उसे अमृत समझ कर ही पी जांयगे।

आप नित्य प्रति जहर पी रहे है अमृत समझ कर। आप जिसे प्रेम रस समझ रहे है, वह वासना ही है। आप वासना में रह रहे है, वासना में जी रहे है, इसलिये प्रेम आप से बहुत दूर भागा जा रहा है। आप दौड़ते तो हैं उसके पीछे, किन्तु उसकी छाया को ही पकड़ पाते हैं।

और जब छाया ही देखी है तो असल क्या हैं ? यह आप कैसे जान सकते है ? आप गृहस्थ धर्म में भी जब प्रेम की छाया को पकड़े हुए है तो दो आत्माओं का मिलन उस रूप में नहीं हो सकता कि जो आपको अभेद बना दे, जो आपको एकाकार कर दे।

और जब आप दाम्पत्य जीवन में अभेद का अनुभव करते हैं तो प्रेम से सम्पन्न हो जाते है। उस प्रेम में वासना नहीं, स्वार्थ नहीं, अहंत्वं की मान्यता नहीं और आप उस सब से उठ कर चढ़ते हैं उस जीने पर, उसकी सीढ़ियों पर जो परमात्मा के स्थान को जाती है तो आपको असफलता का मुख शायद देखना ही न पड़े।

किन्तु किसी जीने पर चढ़ने के लिये संकल्प करना होता है। आप निश्चय करते है कि हमें इस मार्ग पर चलना है और इग सीढ़ियों पर चढ़ना है, वही संकल्प है आपका। वस्तुतः निश्चय और संकल्प में कोई

बहुत बड़ा अन्तर नही है। और जब आप निश्चय कर लेते हैं तब इसे क्रियान्वित भी करना ही होता है। क्योंकि कोई भी निश्चय जब तक क्रियान्वित न किया जाय तब तक किसी काम का नहीं।

इसलिये आपका निश्चय जब क्रियात्मक बन जाता है तो उसका महत्व हो जाता है। क्रियात्मक होते ही संकल्प का कार्य पूरा हो जाता है। क्योंकि उस समय मन आपके अनुकून होता है और मन अनुकूल होता है तो आप आत्मा की ओर बढ़ते है, आत्म बोध प्राप्त कर लेते है और फिर आत्मा से सम्पन्न हो जाते है।

आत्मा से सम्पन्न होने का अभिप्राय यही है कि आपको आत्मा की जानकारी हो जाती है। जब तक उसकी जानकारी नहीं होती तब तक उसकी विद्यमानता रहते हुए भी आप उसे जान नहीं सकते। और जान नहीं सकते तो इसका अभिप्राय यही होगा कि आत्मा आपके पास नहीं है। आप उसकी सुखानुभूति से, उसके परम आनन्द से वंचित है।

यदि संकल्प दृढ़ नहीं होता तो शायद उसका क्रियान्वयन ही न हो। शायद आप अपने मार्ग पर चलने के लिये कोई समय ही न निकाल पावें। शायद आप उस जीने तक न पहुँच सकें जिस पर चढ़ना है। यह भी संम्भव है कि सीढ़ियों पर चढ़ने भी लगें तो मध्य से ही लौट लें अथवा अन्तिम सीढ़ी पर पहुँच कर ही खड़े हो जांय और आपके पाँव जबाब दे दें।

जब सकल्प दृढ़ नहीं होता तो पाँव भी जवाव दे सकते है। और विचार भी बदल सकता है। आप इतने ऊँचे चढ़ते हैं तो असमंजस में पड़ जाते हैं। सोचते हैं कि इतने आ गये तो आगे क्यों न बढ़े। यह भी सोचते हैं कि इतनी दूर जाने पर भी कुछ हाथ न लगा तो ?

और ऐसी मनः स्थिति कुछ भी हाथ नहीं लगने देती। मन कीं करामत ही ऐसी है। उसके बदलने में भी देर नहीं लगती। आप उसके

पीछे जाते हैं तो वह आपसे भी बहुत दूर चला जाता है। क्योंकि मन की छलांग जितनी लम्बी है, आपकी नही हो सकती।

आप ध्यान का अभ्यास करते हैं तो शायद मन को वश में करने की दिशा में बढ़ सकें। शायद आपको आगे बढ़ने पर वे काँटे-कंकड़ न मिलें, जिनकी आपने आशंका की हुई थी।

यह सभी कुछ मन पर निर्भर है। संसार बनता है मन से, अध्यात्म का मार्ग भी मन से ही बनता है। परमात्मा के मार्ग में चलना चाहोंगे तो भी मन से ही जा सकोगे। क्योंकि प्राणी के सभी क्रिया-कलाप उसके मन पर ही आधारित है।

आप मन को सुदृढ़ बनाकर आगे बढ़ने का प्रयत्न कीजिये। मन साथ है तो अध्यात्म दूर नही, आत्मा दूर नहीं और परमात्मा भी दूर नहीं। मोक्ष का यदि कोई साधन है तो वह मन ही है। यदि मोक्ष से पीछे हटाता है तो भी मन ही हटाता है।

और मन साथ है तो विरागी होने की भी आवश्यकता नहीं। विरागी हुए और मन साथ न हुआ, वह राग में फँसा रहा, उसे आसक्ति में ही आकर्षण प्रतीत हुआ तो उससे तो वह जीवन ही अच्छा जिसमें विराग नहीं हैं। क्योंकि विरागहीन जीवन में कुछ नैतिकता तो रहती है। जबकि विराग युक्त जीवन में राग उत्पन्न हो जाय तो नैतिकता ही चली जाती है।

हमें एक व्यक्ति की याद आती है जो घर-द्वार छोड़ कर संन्यासी हो गया। यद्यपि उसकी आयु कुछ ऐसी नहीं थी कि संन्यास लेना कठिन हो। किन्तु वह अधिक दिनों तक नहीं टिक सका उस जीवन में। जब उसे पुनः भेष बदले हुए देखा तो जिज्ञासा हुई कि यह क्या ? पूछने पर उसने बताया कि 'मैं पुनः गृहस्थ जीवन में लौट रहा हूँ। उसी घर में लौटूँगा जहाँ से चला था। वहाँ मुझे बड़ा आराम था। कुछ भी तो नहीं करना होता था अपने हाथ से। किन्तु यहां मैं बड़ी

परेशानी में पड़ गया। कपड़े साफ करो, भोजन बनाओ और उदरपूर्ति के लिये भीख माँगो। बहुत-सा समय इसी में नष्ट हो जाता है तो परमात्मा की साधना भी किस प्रकार हो ? जब परमात्मा की साधना ही नहीं होती तो विरागी बने रहने से ही क्या लाभ होना है ?

उसकी बात में तथ्य था । 'आये थे हरि भजन को आटन लगे कपास' और न जाने कितने लोग विरागी होकर परमात्मा से भिन्न ताना-बाना बुनते रहते है। इसलिये या तो उस मार्ग में कदम मत दो जिससे पीछे लौटना पड़े। और लौटना ही हो तो शीघ्र ही लौट पड़ो। यदि देर से लौटोगे तो बहुत कुछ खो चुके होगे उस समय तक। यदि देर हो गई है विरागी बने हुए तो साहस से काम लो। डटे रहे अधिक समय तक तो उसी में मन रमने लगेगा और लौटने की इच्छा समाप्त हो जायगी।

जब तक सुखानुभूति नही होती तभी तक लौटने की इच्छा होती है। क्योंकि तब तक हम दुःखों में ही जिये है। जिसे हमने सुख समझा वह भी दुःख रूप ही सिद्ध होता रहा है। इसलिये सुख के विषय में तो हमें शंका ही रही है कि कहीं सुख है भी अथवा सुख के नाम की कल्पना ही की गई है ?

और अब बहुत-से लोग तो सुख के नाम से भी डर गये हैं। जब भोगे हुए सुख बन गये दुःख रूप तो अब आगे जिसे दिव्य सुख की संज्ञा दी जा रही है, कहीं वे दिव्य दुःख या घोर दुःख रूप न बन जांय। दूध पीने से एक बार मुख जल जाय तो वह छाछ को भी फूँक-फूँक कर पीता है। यह एक ऐसा तथ्य है, जिसने लोकोक्ति का रूप ले लिया है।

जब आप सुख की बात सोचते हैं तब उसके रूप पर भी विचार करना होगा आपको। आपने जिन दुःखों को सुख रूप में भोगा, वे भोग सम्बन्धी ही हो सकते है। क्योंकि उनकी प्राप्ति कराने वाली इन्द्रियां ही हैं। इन्द्रियों से सम्बन्धित जितने भी भोग है, वही भ्रान्त करने वाले हैं,

वही आपको सुख प्रतीत होते हैं भोग-काल में। किन्तु भोग लेने के बाद जो परिणाम सामने आता हैं उससे लगता है कि वे सब दुःख रूप में परिवर्तित हो गये हैं। रोग, शोक, भय, अहंकारादि सब उन्हीं भोगों के कारण अपना अस्तित्व जमाये हुए हैं। ऋषियों ने इनके त्याग की बात इसीलिये कही है कि आप इनसे जितते दूर हटेंगे, दुःख भी उतने ही दूर भागते जांयगे।

अकेले चलो--

किन्तु, आप सुख की उपलब्धि चाहते हैं तो आपको कुछ ऐसी दिशा में बढ़ना होगा जो देखने में असुविधाजनक और अव्यावहारिक प्रतीत हो। आपको लगे कि उधर जो मार्ग है उसमें कांटे बिछे हुए है, जिन पर पांव रखते ही चुभन उत्पन्न हो जायगी।

आपको चलना होगा अकेले। दुनिया जिधर जाती है, उधर जाना तो वैसे भी बहुत सरल रहता है। किन्तु अकेला चलना पड़े तो बहुत सी कठिनाइया उपस्थित हो जाती है। यदि हम उस पर निष्कर्षात्मक बुद्धि से विचार करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि जब तक हम दुनियां की भीड़ के साथ चलेंगे, भटकाव बढ़ता रहेगा और भटकते हुए हो सकता है कि हम बिछुड़ जांय उस भीड़ से और किसी तिराहे या चौराहे पर पहुंच कर सोचने लगें कि अब किधर चलना चाहिये ?

उस भटकाव का कारण दूसरों पर निर्भरता है। हम भीड़ के साथ चलते हैं तो सोचते है कि जिधर यह भीड़ जा रही है उधर ही तो जाना है हमें। बड़ी सुविधा रहेगी साथ चलने में। किन्तु जब उस भीड़ के कुछ लोग मार्ग में कहीं ठहर जाते हैं, कुछ लोग एक मार्ग पर और कुछ दूसरे मार्ग पर चल पड़ते हैं तो हम भी भटक जाते हैं। उस समय अकेले बढने पर और भी परेशानी उपस्थित हो सकती है। क्योंकि हमें मार्ग का पता नहीं होता और मार्ग फटता है तो हमारे लिये समस्या बन जाता है।

यदि हम आरम्भ से ही अकेले चलते है, तो उससे पहिले लक्ष्य पर पहुँचने वाले मार्ग की पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लेते हैं। उस स्थिति में हमें यह चिन्ता नहीं होती कि कोई साथ है या नहीं। तिराहे-चौराहे पड़ने पर भी हम निर्दिष्ट दिशा की ओर बढ़े चले जा सकते हैं किसी से पूँछे बिना ही।

सुख की उपलब्धि के लिये अकेले होने का साहस जुटाना होगा। यदि अकेले चलोगे तो अधिक सत्यनिष्ठ और धार्मिक रह सकोगे। उस समय आपका चलना स्वधर्म के साथ होगा। किन्तु भीड़ में मिश्रण हो जायगा धर्मों का। न जाने कितनों के धर्म आ मिलेंगे आपके धर्म में और 'पर धर्म भयावह' वाली स्थिति बन जायगी। आप को पता भी न चलेगा कि किसी दूसरे के धर्म ने आपके धर्म में आसन जमा लिया है। क्योंकि धर्म की गति सूक्ष्म होती है और जो सूक्ष्म है व न आंखों से दिखाई देता है, न कानों से सुना जाता है। उसका न कोई स्वाद होता है, न स्पर्श का अनुभव, इसलिये उसे मिलने में कोई कठिनाई भी नहीं होती।

आप स्वयं चलें, अपने ही धर्म के सम्बल लेकर। उसमें मिलने न दें दूसरे के धर्म को। किसी के सहारे भी न चलें, यदि ऐसा करेंगे तो छले जाते रहेंगे, भ्रमित होते रहेंगे। किन्तु स्वयं चलेंगे, अपने ही धर्म के सहारे तो धार्मिक हो जांयगे, सत्यनिष्ठ हो जायेगे, तभी आपको अनुभव होगा कि हम जिधर बढ़ रहे हैं, वह मार्ग दुःख का नहीं, धर्म का है, आनन्द का है।

मत घबराइये इससे कि कोई क्या कहता है। कोई निन्दा करें तो करने दीजिये, गाली देता है देने दीजिये। आप निन्दा करने वाले की प्रशंसा करते रहिये तो वह निन्दा करना ही छोड़ देगा किसी दिन। आप गाली देने वाले से प्रेम करिये, वह भूल जायगा गाली देना। उसे अपने ही कृत्य पर लज्जा आने लगेगी।

विश्वास कीजिये कि आपका स्वरूप वह नहीं है जो गाली देने वालों ने समझ रखा है। जब आप उससे भिन्न स्वरूप वाले हैं तो मान लेना चाहिये कि वह गाली आपको नहीं दी गई। किसे दी गई ? यह जानना आपका काम नहीं।

आपके हृदय में जो विद्यमान है, वही आपका स्वरूप है। वही आत्मा है और परमात्मा भी वही है। दूसरों के हृदयों में भी वही विद्यमान है, किन्तु वे इस तथ्य को भूले हुए हैं। जो आप में है, वही उसमें है, तब किसी पर क्रोध कैसा ? आप उससे प्रेम कीजिये, क्योंकि प्रेम-मय आत्मा हीं वहां भी विराजमान है।

आत्मा सुखरूप है, आनन्द रूप है, प्रेम रूप है। परमात्मा अनन्त सामर्थ्य वाला है। उसी ने अपने अनन्त रूप बनाये हुए हैं असंख्य जीवों के रूप में। जब आप इस रहस्य को जान लेते हैं तो फिर कुछ जानना शेष नहीं रहता। आप रहस्य को ही नहीं जान लेते, स्वयं भी आनन्द स्वरूप हो जाते हैं और तब प्रेम-रस उमड़ने लगता है आपके हृदय से। जो लोग नहीं जानते इस रहस्य को, वे भी कभी न कभी जान सकते हैं। यदि आप इस दिशा में कोई प्रयत्न कर सकें तो इसका अर्थ होगा कि आप दूसरों का नहीं, अपना हीं उपकार कर रहे हैं। निश्चय मानिये कि परोपकार का अर्थ अपना ही उपकार करना है। आप परोपकार में लगते हैं तो अवश्य ही परमात्मा की सेवा में लग जाते हैं।

शक्ति का स्रोत बिन्दु–

यह भी समझ लीजिये कि यदि आप क्रोध करते हैं तो उससे किसी दूसरे की हानि नहीं करते। क्रोध उत्पन्न होता है तो अपने को ही जलाने लगता है। क्रोध का प्रभाव रक्त पर सीधा पड़ता है। आयुर्वेदज्ञों ने खाये-पीये अन्न से बनने वाली सर्व प्रथम धातु 'रस' कही है। क्रोध करने वालों में रस बनने में ही बाधा उत्पन्न हो जाती है। जितना

रस बनता हैं, वह भी क्रोधानल की गर्मी में जलने लगता है। अब देखिये कि रस जलेगा तो फिर रक्त कितना बनेगा ?

योगियों ने बिन्दु को शक्ति का स्रोत माना है। बिन्दु की रक्षा से मन, प्राण और शरीर की रक्षा होती है। बिन्दु का अर्थ गणितज्ञों की दृष्टि में शून्य है, किन्तु चिकित्सा शास्त्रियों और योगाचार्यों ने उसका अर्थ शुक्र (वीर्य) किया है। शरीर में वीर्य की बहुत अधिक आवश्यकता होती है, इसीलिये उसकी रक्षा भी परम कर्त्तव्य माना गया है। आप क्रोध करते हैं तो रस, रक्त आदि को ही नहीं, शुक्र को भी शुष्क होने का अवसर देते है।

इसलिये आवश्यक है कि आप क्रोध को उत्पन्न न होने दें। यदि वह हो भी जाय तो शीघ्र ही त्यागने का प्रयत्न करें। क्रोधी स्वभाव आपके जीवन में एक बाधा उत्पन्न कर सकता है। वह आपको किसी संकट में डाल सकता है चाहे जब। बहुत बार तो आप न चाहते हुए भी अपने स्वभाव के कारण ही झंझट में फँसते और व्यर्थ ही शत्रुता मोल ले बैठते हैं।

और यह एक तथ्य है कि क्रोध का सम्बन्ध आपके मन से हो सकता है, आत्मा से नहीं। क्योंकि आत्मा तो कभी क्रोध करता ही नहीं। आत्मा का सम्बन्ध तो प्रेम से है। आप क्रोध करते हैं तो आत्मा को खो देते हैं। आप प्रेम करते हैं तो आत्मा को पा लेते हैं। और आत्मा को पाते हैं तो आनन्द भी सुलभ हो जाता है आपके लिये।

आप आत्मा के उपासक होकर ही परमात्मा के उपासक हो सकते हैं। आत्मा कोई उपचार-पूजन नहीं चाहतीं। आवश्यक नहीं कि उसके समक्ष भौतिक द्रव्यों का ही समर्पण किया जाय। आवश्यक नहीं कि गन्ध-अक्षत से ही उसका पूजन किया जाय। अपेक्षा इस बात की है कि आप भावात्मक पूजन करें। जो कुछ समर्पित करें उसमें भावना अवश्य हो। क्योंकि भावना-रहित समर्पण को आत्मा या परमात्मा कोई

भी स्वीकार नहीं करता ।

किन्तु क्या विश्वास करते हैं परमात्मा में ? यदि नहीं करते तो सभी पूजा, समुचा समर्पण ही व्यर्थ है । बहुत-से लोग छाती ठोक कर कहते हैं कि परमात्मा में विश्वास करते हैं, इसीलिये पूजा करते हैं उसकी । इसलिये समर्पण करते हैं उसके निमित्त ।

पर, कभी कोई पूछ बैठे आपसे कि क्या आपने समर्पण कर दिया है अपना ? शायद आप तब भी कह दें कि 'कर दिया है, किन्तु अपने से ही पूछिये कि क्या वह सत्य है जो कहा है हमने ? यदि सत्य है तो कितने प्रतिशत ?

और उसका उत्तर मिलेगा कि इसमें सत्य का अंश बहुत कम है ! क्योंकि आप अभी तक मिटने को तैयार नहीं हुए हैं । समर्पण वही हो सकता है जो मिटने को तैयार हो गया हो । तैयार ही नहीं हो गया हो, मिट गया हो हम अपने को पूजक कह सकते हैं, विरागी कह सकते हैं, योगी कह सकते हैं, किन्तु मिटा हुआ नहीं कह सकते ।

पूर्ण समर्पण तो उसी का हो सकता है, जिसने अपने को मिटा डालना ही ठीक समझा हो । आप घर छोड़ दें तो उससे यह सिद्ध नहीं होता कि आपने अपने को मिटा डाला । आप योगिया वस्त्र धारण करलें तो इसका यह अभिप्राय नहीं कि आप मिट चुके हैं पूर्ण रूप से । आप तपस्या रत रहते हैं तो भी यह नहीं माना जा सकता कि आप मिट कर पुनः सामने आये हैं नये रूप में ।

चोला बदलने से कुछ नहीं होता । होगा तभी जब पुराना मिट कर नया उत्पन्न हो जायगा । किन्तु नया उत्पन्न होगा तभी जब हम प्रत्याहार का सहारा लेंगे, धारण का सहारा लेंगे और इन सीढ़ियों पर पाँव रखते हुए ध्यान पर पहुँच कर भी रुकेंगे नहीं । पुराने की गति ध्यान तक ही होती है, उससे आगे जो समाधि है उस पर पाँव रखते-रखते ही पुराना मिटता और नया हो जाता है ।

किन्तु कोई चाहे कि समाधि से पहिले ही नया हो जाय तो वह नहीं हो सकता। क्योंकि वहाँ तक पहुंचे विना कोई परिणाम सामने नहीं आता। फिर परिणाम दिखाई भी कैसे दे ? योग के पहिले सात अङ्ग तो जीने की सीढ़ियाँ मात्र होती हैं, इसलिये उन पर जो चलता है वह पुराना ही होता है, उसे नया नाम भले ही दे दिया जाय। उसे योगी, सन्यासी, विरागी, तपस्वी कुछ भी कह लिया जाय, रहता है वही जो पहिले था। समाधि में प्रविष्ट हो जाता है तो पहिले वाले के लिये स्थान नहीं रहता।

जीवात्मा-परमात्मा अभेद–

शायद आप संन्यासी होने की पुरानी विधि से परिचित हों। जब कोई मनुष्य घर छोड़ कर संन्यासी लेता था तब सर्व प्रथम उसे श्मशान पर ले जाते और चिता बना कर उस पर लिटा देते। चिता में आग भी लगा दी जाती और तब उसे चिता से उठा लिया जाता। समझा जाता था कि उसके पुराने जीवन का अन्त हो गया। उससे कहा जाता था कि 'वह देवशत्त मर गया; अब तुम में एक नये व्यक्ति की उत्पत्ति हुई है, जिसका नाम देवानन्द है।'

इस प्रकार न जाने कितने देवदत्त देवानन्द वना दिये जाते। न जानें कितने शचीन्द्र सच्चिदानन्द बना दिये गये। सिद्धान्त यह था कि पूर्व व्यक्ति का अन्त हो गया और जब वह आनन्द की ओर अग्रसर हुआ तो उसके नाम के साथ आनन्द लगा दिया। शायद यह इस मान्यता के आधार पर किया गया हो कि मनुष्य जब घर-द्वार छोड़ देता है तभी आनन्द का भागी हो पाता।

परमात्मा सत्-चित् आनन्द स्वरूप है। जीवात्मा भी उन तीनों से युक्त तो है, किन्तु शरीर के आवरण में उसका आनन्द गुण छिप जाता है। सत्-चित् रूप तो वह प्रत्यक्ष ही दिखाई देता है किन्तु आनन्द गुण

के छिपने पर देहधारी दो गुणों से ही सम्पन्न मान लिया जाता है। संन्यासियों की मान्यता के अनुसार जब वे संन्यास ले लेते हैं तब उनका आनन्द गुण भी प्रत्यक्ष हो जाता है, इसीलिये सभी संन्यासियों का नामकरण इस प्रकार से होता है कि अन्त में आनन्द शब्द अवश्य जुड़ जाय।

परन्तु सभी संन्यासी यह दावा नहीं कर सकते कि वे आनन्दमय होगये और उनका पुरानापन समाप्त हो चुका है। अनेक संन्यासी ऐसे देखे जाते हैं, जो माया-मोह से छुटकारा नही पा सके। उनके सभी क्रिया-कलाप पूर्ववत् हीं चल रहे होते हैं।

और शायद आपने कुछ संन्यासियों को देखा हो जो अनेक झंझटों में पड़े हैं। कोई जायदाद आदि के कारण न्यायालयों की दौड़ लगाते हैं, तो कोई धन के पीछे भागते हैं। किसी को आश्रम बनाने और चलाने के लिये धन की चिन्ता है तो किसी को किसी अन्य कार्य की। कोई किसी भोग में आकर्षित है तो कोई उससे भिन्न भोग में।

किन्तु इसी चिन्ता को यदि अध्यात्म मार्ग में मोड़ दें तो उसका रूप चिन्ता नहीं रहेगा, चिन्तन बन जायगा वह। आप चिन्ता में पड़े रहेंगे तो डूब जाँयगे। किन्तु चिन्तन में पड़ेंगे तो डूबे होंगे तो भी ऊपर आ जाँयगे। इसलिये, हम नहीं कहते कि आप चिन्ता न करें। किन्तु जितनी भी चिन्ता करें उसे अध्यात्म मार्ग में मोड़ देते रहें। क्योंकि उस मार्ग में चिन्ता का कदम सम्भव नहीं।

आप चिन्ता को चिन्तन बना लेते हैं तो समाधि में पहुँच सकते हैं। आप चिन्ता का रूप परिवर्तन कर देते हैं तो एक बड़ा भारी काम बना लेते हैं। चिन्ता आपको संसार में खींच ले जाती है और चिन्तन परमात्मा के मार्ग में। आप संन्यासी होकर चिन्ता करते हैं तो समझ लीजिये कि वह चिन्ता नष्ट कर डालेगी आपका भविष्य। आप उसके द्वारा अन्धकार में घसीटे जा सकते हैं। किन्तु आप गृहस्थ रह कर भी चिंतन करते हैं तो उसे मारने में सामर्थ हो सकते हैं जो आपको ही

मारने को तैयार हो रहा हो ।

याद आती हैं एक कहानी। एक धनिक था. साधु-संन्यासियों का बड़ा सत्कार करता था। एक साधु उसे ऐसा लगा, जिसके प्रति बड़ी श्रद्धा उत्पन्न हो गई थीं उसके मन में। एक दिन उसने उसके लिये बहुत-से मिठाई, पकवान, पूड़ी आदि खाने को भेजे, वे उसने चुपचाप रख लिये। उसने सोचा कि यह कैसा साधु जिसने मिठाई, पकवान आदि के लिये मना न किया ? चलो अब इसकी परीक्षा ही कर ली जाय।' यह विचार कर एक नवयौवना दासी भेजी उसकी सेवा के लिये, किन्तु उससे भी इंकार न किया। वह दासी उसका काम-काज करती और हर समय वहां रहती। धनवान् का आदेश था कि साधुजी के सभी कार्य करने हैं तुम्हें। वे जो भी इच्छा करें उसकी पूर्ति की जाय तत्काल।'

दासी छोड़ दी गई साधु की सेवा के लिये। किन्तु धनिक ने सोचा कि साधुओं के लिये तो स्त्री की गन्ध भी दूर रहना चाहिये किन्तु इन्होंने तो इसके लिये भी मना न किया। तो क्यों न इनसे इस विषय में साफ बात कर ली जाय ?

और धनिक एक दिन कह बैठा उससे—'महाराज ! कुछ पूछना चाहता हूं, यदि आज्ञा हो तो पूछूँ ?'

साधु ने कहा—'किन्तु, तू जो पूछना चाहता है, वह में पहिले से ही जानता हूँ। यही पूछेगा न कि मिठाई, पकवान आदि कैसे स्वीकार कर लिये और यह लड़की कैसे रहने दी अपने पास ? बोलो, यही प्रश्न हैं न तुम्हारे ?'

वह बोला—'प्रश्न तो यही हैं, किन्तु आप कैसे जानते हैं कि यही प्रश्न हो सकते हैं मेरे ?

'प्रश्न तो उसी समय उत्पन्न हो गया था, जब तूने पकवान, मिठाइयाँ भेजी थी खाने को। किन्तु तूने आज पूछा है यह प्रश्न जो उसी

दिन पूछ लेता तो शायद इतने दिनों तर्क-वितर्क के ताने-बाने न बुनने पड़ते तुझे ।'

धनिक ने कहा—'तो उसका उत्तर दे दीजिये महाराज ! जिससे समाधान हो जाय मेरा ।'

'शायद विश्वास न करे तू, महात्मा बोले—'यहां बहुत लोग आते हैं, उनमें गरीबों और भूखों की संख्या भी रहती है । कुछ तो धनवान भी कम भूखे नहीं होते । गरीबों को भोजन चाहिये तो धनवानों को प्रसाद । तेरी मिठाई आदि सभी बाँट दी गई उन लोगों में जो भूखे थे या जो प्रसाद चाहते थे ।'

धनिक ने पूछा—'और दूसरे प्रश्न का उत्तर ?' उन्होंने कहा–'वह तो सेविका से ही पूछ सकता है । फिर भी मैं यह कह सकता हूँ कि मैंने तो उसे आँख उठाकर भी नहीं देखा है ।

धनिक चुप था । वे कहते आ रहे थे 'तू अभी माया-मोह में पड़ा है, इसलिये उसी माप से मापना चाहता है सभी को । तू त्याग करता है तो उसमें भी कोई न कोई आसक्ति होती है । कोई न कोई उद्देश्य होता हैं उसी त्याग का । किन्तु मैं जो ग्रहण करता हूँ उसमें आसक्ति या उद्देश्य का अभाव रहता है । आसक्ति चिन्ता उत्पन्न करती है और अनासक्ति चिन्तन उत्पन्न करती है ।'

तो चिन्ता से बचना है तो आसक्तियों से बचना होगा । आसक्तियाँ बहुत प्रकार की हैं—धन की, पत्नी की, पुत्री की पद की, नाम की। किन्तु कोई भी आसक्ति ऐसी नहीं हैं जिसकी प्राप्ति स्थायी हो, जो सदैव स्थिर फल वाली हो सकती हो ।

लोग कहते हैं कि अन्य आसक्ति आस्थिर हो सकती हैं, किन्तु नाम की आसक्ति तो अनुचित नहीं है । क्योंकि नाम सदा अमर रहता है मनुष्य मर जाता है, उसका नाम नहीं मरता ।'

हम कह सकते हैं कि नाम बहुत दिनों तक चलता रह सकता है

किन्तु आवश्यक नहीं कि सदैव रहा ही आये। फिर नाम की ऐषणा भी वहीं तक सम्बन्धित रहती है, जहाँ तक मनुष्य जीवित रहता है। मरने के बाद तो उसका सम्बन्ध नाम से भी नहीं रहता। दूसरा जन्म प्राप्त करेगा तो नाम भी दूसरा हो जायगा। वह यह जान भी न सकेगा कि मेरे विगत जन्म के जिस नाम की प्रसिद्धि हो रही है, वह मेरा ही नाम है। यह भी सम्भव है कि नये जन्म में वह पुराने जन्म के नाम से प्रतिद्वन्द्विता या ईर्ष्या ही करने लगे।

आसक्ति बनाम समर्पण–

इस प्रकार कोई भी आसक्ति या ऐषणा आत्मा का कोई उपकार, कोई हित साधन नहीं कर सकती। इसलिये गीता में कृष्ण ने अनासक्त भाव से कर्मयोग का निर्देश दिया है। अर्थात् जो कुछ भी करो उसे निर्लिप्त भाव से करो, उसमें आसक्ति न रखो। क्योंकि किसी भी कर्म में आसक्ति रखने से उस कर्म में निहित शक्ति का ह्रास हो जाता है।

जब तक आसक्ति जीवित है आप समर्पण नहीं कर सकते। जब तक ऐषणाएँ छायी हुई हैं आपके मन पर आप 'मैं' को मिटा नहीं सकते। 'मैं' रहता है तो विष बेल को बढ़ाता चलता है। 'मैं' मिटता है तो अमृत का बीज अंकुरित होंने लगता है हमारे भीतर। किन्तु 'मैं' ने उस बीज के अंकुरित होने और उसकी दिव्य सुगन्ध का आनन्द लेने से वंचित किया हुआ है हमें।

हमें अमृत के उस पौधे की सुगन्ध लेनी! और उसके फल का रसास्वादन करने की इच्छा है तो मैं को ही सब से पहिले मिटाना होगा। हम जहाँ अपने मिटाने की बात कहते हैं वहाँ उसका तात्पर्य मैं के मिटाने से ही है आप इसी को मिटा कर अपना रास्ता साफ कर सकते हैं।

'मैं' के मिटने पर ही साक्षी चैतन्य होता है। मैं मिटता है तभी

साक्षी शेष बच पाता है। यदि आप कहें कि हम तो साक्षी भाव से सम्पन्न हैं तो हम समझेंगे कि अभी आप साक्षी भाव से बहुत दूर हैं। क्योंकि जहाँ 'हम' या 'मैं' शेष है, वहाँ साक्षी तो रह ही नहीं सकता। वह दब-ढक जाता है हम या मैं के आवरण में।

मत समझिये कि साक्षी कही बाहर से आयेगा। मत समझिये कि साक्षी को लाने के लिये कोई साधना करनी होगी। वरन् विश्वास कीजिये कि साक्षी इसी शरीर में विद्यमान है। हम उसी आनन्दस्वरूप को स्वयं भूले हुए हैं। वह हमारे ही भीतर है, जिसे हम आत्मा कहते हैं, जिसे हम जीव या साक्षी कहते हैं। वही सत्‌:चित् आनन्द-स्वरूप परमात्मा है। किन्तु उस परमात्मा को ढकने का प्रयत्न किया है आपने। यद्यपि जिससे ढका गया है, वह आवरण हटाया जा सकता है थोड़े-से प्रयत्न से ही, किन्तु आप भयभीत हैं उसे हटाने में कि कहीं कुछ गड़-बड़ न हो जाय।

आप समझते हैं कि आवरण हटते ही वह दिखाई देने लगेगा, जिसे देखने के हम इच्छुक नहीं हैं। क्योंकि उसे देख लेंगे तो हम हम नहीं रहेंगे। कुछ और ही हो जाँयगे। शायद न भी रहें कुछ। यह होना, न होना सभी कुछ अपने नजरिये पर निर्भर है। फ्रेम का ऊपरी सिरा नीचे कीजिये तो चित्र उलटा हो जायगा। शिरोभाग नीचे और अधोभाग ऊपर। फ्रेम को पीछे की ओर फेर दीजिये तो तस्वीर के पीछे का भाग दिखाई देगा। इसी प्रकार उसके एंगिल बदले जा सकते हैं, पहलू बदले जा सकते हैं।

कोई उपयोगी वस्तु है। उसका उपयोग तभी हो सकता है जब कि काम के योग्य हो। जो जीर्ण हो गई, भुगत गई, काम की ही न रही तो उपयोग कैसे हो? गाड़ी के पहिये निकाल कर रख दीजिये, वह चल नहीं सकेगी। और जो चल न सके वह गाड़ी कैसी? चलती का नाम ही गाड़ी होता है। जिसे गाड़ी कहते हैं वह कोई एक वस्तु नहीं है अपने

में। उसमें पहिये हैं, तख्ते हैं, कील-चोवे हैं और जब उसमें बैल या घोड़ा जोड़ दिया जाता है तभी चलने योग्य होती है।

गाड़ी एक जोड़ है अनेक वस्तुओं का। एसेम्बलिंग के बिना गाड़ी नहीं बन सकती। मनुष्य भी मनुष्य तभी है जब उसमें ढाँचा हो मनुष्य का, सभी धातुएँ हों, प्राण हो, आत्मा हो। इनमें से एक की भी कमी हो तो मनुष्य नहीं रहता। किन्तु मनुष्य मनुष्य न रहे तो भी आत्मा का अस्तित्व तो रहेगा ही। आत्मा स्वयं में पूर्ण है, शरीर न रहे तो भी आत्मा रहता है, नाम न रहे तो भी आत्मा का न रहना सम्भव नहीं। आत्मा जो रहता है शेष, वही परमात्मा है, वही साक्षी है, वही निर्लिप्त और अकर्त्ता है। मनुष्य तो जोड़ मात्र है आत्मा के लिये। उसे अवतरित करने के लिये।

हमारा जो नाम है, वतुस्तः हमारा नहीं शरीर का है। जन्म से मृत्यु पर्यन्त जो कुछ होता है हमारे नाम से वह सब मिथ्या है। उस नाम से जो कुछ किया जाता है, वह हमारा किया हुआ नहीं है। वह तो वैसा ही है, जैसा कोई राजा फरमान जारी कर दे ओर उसका यथा समय प्रयोग करें अधिकारीगण। अधिकारियों द्वारा प्रयोग किया गया फरमान आदेश राजा द्वारा ही प्रयुक्त मान लिया जाता है। चाहे उसका दुरुपयोग ही क्यों न किया जाय। राजा नहीं कहता कि दुरुपयोग करो उसका, किन्तु अधिकारीगण कर बैठते हैं तो थोपा जाता है राजा पर ही। वैसे ही आपके नाम पर जो कुछ होता है संसार में वह सब आप पर थोप दिया जाता है। विलिप्त को लिप्त बना दिया जाता है।

मतलब का संसार—

जरा सोचिये तो कि जिसे आप अपना घर कहते हैं उसमें आपका है क्या ? माता, पिता, भाई, पत्नी, पुत्र ऐसा कोई है जिसे अन्त समय में अपना कह सकें ? वह तो सब सामयिक संग्रह है, जो वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये स्वतः जुट गया है। हम चल देंगे यहाँ से

तो शायद कुछ दिनों तक हमारी याद की जाती रहे । किन्तु धीरे धीरे वे ही परिवरीजन उस याद को भी व्यर्थ समझ कर भूलते जांयगे और एक दिन वह होगा, जब शायद कुछ दिनों तक हम कागजों पर विसटते रहें । उसके बाद वह भी समाप्त ।

और हम इन बातों को सुनकर भी अनसुनी कर देते हैं । क्योंकि हमारे नेत्र बाह्य द्रष्टा हैं । वे भीतर की ओर नहीं मुड़ते, नहीं देखते । और बाहर जो कुछ है, वह ऐसा स्वार्णिम जाल है जो अपनी ओर आकर्षित करता हैं । हम दौड़ते हैं उसकी ओर और फँस जाते हैं । फँसे एक बार तो निकलना बहुत ही कठिन ।

शायद आप चूहों से परेशान हुए हो कभी और आपने उन्हें पकड़ने के लिये पिंजड़ा रखा हो । पिंजड़े में तो चूहे को कोई आकर्षण नहीं हो सकता, इसलिये आपने उसमें रोटी का टुकड़ा भी रख दिया हो । बस वह रोटी का टुकड़ा ही उसके लिये मुसीबत बन जाता है । किन्तु वह उस मुसीबत से अनजान रहता है । उसे पता नहीं होता कि मैं पिंजड़े में घुँसूगा रोटी के लिये और बन्द हो जाँऊगा । उसे यह भी जानकारी नहीं होती कि पिंजड़ा लगाने वाले ने जो रोटी रखी है उसमें वह खिलाने के उद्देश्य से नही, फँसाने के उद्देश्य से ही रखी है ।

आप भी इस बात से बेखबर रहते हैं कि परिवारीजनों का यह मोह-प्रदर्शन आपको फँसाने के लिये है । सभी अपना-अपना काम निकालना चाहते हैं आपसे । जब तक उनके लिये उपयोगी हैं आप तब तक अधिक पूँछ है आपकी, बाद में पूछ तो कम हो ही जाती है ।

कहा था किसी कवि ने— 'मतलब का संसार' और उसका कथन कितना तथ्यपूर्ण है, यह भी आपकी समझ में आ ही जाना चाहिये । वह संसार को मतलब का बताता है तो स्पष्ट चेतावनी देता है कि सँभलो, अन्यथा फँसे रहोगे जाल में । इसमें जितने अधिक रहोगे उतने ही अधिक दृढ़ होते जाँयगे बन्धन और आप किसी दिन ऊब कर निक-

लना भी चाहेंगे तो मार्ग बन्द मिलेगा।

किसी कोठरी में बिजली का बल्ब जला कर प्रकाश कर दीजिये और बन्द कर दीजिये उसके किवाड़ । आप स्वयं भी उस प्रकाश को देख नही सकेंगे। उसी प्रकार स्वयं प्रकाश आत्मा इस शरीर के भीतर बन्द है। आप इस योग्य नहीं कि उसे देख सकें ।

जब तक कोठरी के किवाड़ न खोले जायंगे, बल्ब का प्रकाश दिखाई देना सम्भव नहीं। आप भी अपनी कोठरी के किवाड खोल कर अपने हृदय में विद्यमान उस दिव्य और अखण्ड प्रकाश को देख सकते है जो कि अद्वितीय है।

किन्तु किस प्रकार खुलें उस हृदय कोठरी के किवाड़ ? यह एक जटिल समस्या है। हम उसे सुलझाने का उपाय नही जानते। और जान भी लें तो करने को तत्पर नहीं होते। जब करेंगे ही नहीं तो होगा भी क्या ? हम स्वयं अपने प्रति उपेक्षा करें तो किसकी शिकायत ? कैसी शिकायत ? शिकायत किसी दूसरे से की जा सकती है, अपने से नहीं। और अपने से भी हो तो कैसे करें जब अपने को भी नहीं जानते-पहिचानते ?

आप अपने को नहीं जानते, उसके विषय में अन्धकार में पड़े है। किन्तु 'तू' को जानते हैं, उस 'तू' को जिसने आपको 'मैं' बना दिया है। जो 'तू' को जान लेगा, वह 'मैं' के जानने में तो निपुण होना हीं चाहिये। क्योंकि 'तू' और 'मैं' यह दोनों ही परस्पर एक दूसरे पर अबलम्बित हैं। 'तू' है तो ही 'मैं' रहेगा, यदि 'तू' ही नहीं तो 'मैं' कैसा ? कोई कहे कि मैं 'तू' को तो मार सकता हूँ, किन्तु 'मैं' को नहीं, तो वह भी झूँठ कहता है। क्योंकि 'तू' का जन्मदाता तो 'मैं' ही है। जो जिसे जन्म देता है वह उसे मारना नहीं चाहता।

और आप कहें कि उसे मारूँगा तो वह भी एक भ्रान्ति है। जिसे मारना चाहते हो वह भी आप स्वयं ही हो। उसका मरना तो कभी

भी सम्भव नहीं है। उसे तो क्या,आप अपने को भी नहीं मार सकते। क्योंकि आप भी 'मैं' से परे है, 'मैं' की पकड़ में कभी आ ही नहीं सकते आप।

आप 'मैं' की पकड़ में नहीं आते, क्योंकि 'मैं' को खड़ा करने वाले आप ही हैं। आपने ही उस 'मैं' को पकड़ रखा है और उसे सहारा देने के लिये ही उसके साथ खड़ा कर रखा है 'तू' और अब आप सोचें कि उस 'तू' को मिटा दें तो कैसे सम्भव हो? जो वस्तु शक्ति प्रबल हो जाती है वह सामान्य उपायों से नहीं दबाई जा सकती।

आप स्वयं को मिटने का विचार करते हुए कहने लगें कि 'मैं' मिट रहा हूँ' तो भी आप मिट नहीं सकते। कहने मात्र से न कोई मिटता है, न उत्पन्न होता है। किन्तु आप सच्ची भावना करें अपने मिटने की तो सम्भव है कि एक दिन मिट जाँय। सम्भव हैं वह सच्ची भावना एक दिन आपके 'मैं' को मिटा डाले।

सुन्दरता का रहस्य—

किन्तु आप सच्ची भावना करने में भी पीछे रहते हैं। आपने अपने ऊपर बहुत कुछ थोपा हुआ है तो सच्ची भावना भी कैसे करें? बहुत-सा बोझा स्वेच्छा से आपने अपने सिर पर उठा लिया है और आपका 'मैं, उसे सहन न करता हुआ भी लोकभय के कारण उसका त्याग नहीं कर सकता।

आप सोचते हैं स्त्री सुन्दर होनी चाहिये, नाक-नक्श बढ़िया और रङ्ग भी गोरा। गोरा न हो तो साफ तो हो ही। किन्तु कौन कह सकता है कि सुन्दरता का माप-दण्ड क्या है? कोई पतले शरीर को सुन्दर कहता है, कोई मोटे शरीर को। कोई गोल चहरे को सुन्दर मानता है तो कोई लम्बे चेहरे को। कोई कहता है कि कपोल भरे हुए हों, उनकी अस्थियाँ ऊपर उठी न हों। यदि कपोलों की अस्थियाँ उठी

होगी तो वह स्त्री सुन्दरता के माप-दण्ड से एक दम बाहर हो जायगी। किन्तु चीन में वही स्त्री सुन्दर समझी जाती है, जिसके कपोलों की अस्थियाँ ऊपर उठी हों। वहाँ स्त्री के पाँव बहुत छोटे होने चाहिये, इसके लिये शायद बचपन से ही उसे किसी धातु का जूता पहनाया जाता है, जिससे पाँप वड़े न हो जाँय। यदि नाक चपटी हो तो वह सुन्दरता की प्रतीक होती है। किन्तु भारत वर्ष के लोग स्त्री की नाक चपटी हो तो उसे पसन्द नहीं करेंगे।

कोई गुलाब के पुष्प को सुन्दर मानता है तो कोई कमल को। एक को आम अच्छा लगता है तो दूसरे को केला। एक मजदूरी करता है और परिश्रम को ही जीवन का उद्देश्य बनाता है। दूसरा कोई शारीरिक श्रम नहीं करना चाहता और छोटे-छोटे कार्य करने में भी सोचता है कि मेरी प्रतिष्ठा के अनुरूप नहीं। एक चाहता है कि मुझे किसी के पास न जाना पड़े, सभी मेरे पास आयें। किन्तु दूसरा इससे विश्वास नहीं करता, वह स्वयं दूसरों के पास जाने को सदा तत्पर रहता है। कहीं कोमल हाथ उत्तम माने जाते हैं तो कहीं खुरदरे और सख्त हाथ।

इस प्रसंग में एक बात याद आ गई। रूस वालों का मत है कि हाथ कोमल नहीं होने चाहिये। क्योंकि कोमल हाथ उन आलसियों के होते हैं जो बिना परिश्रम किये, दूसरों की मेहनत पर मौज उड़ाते हैं। वे उसी को अच्छा मानते हैं जो स्वयं परिश्रम करके जीविकोपार्जन करता हो। आलसी और नाजुक व्यक्ति को वे लोग अच्छी नजर से नहीं देखते।

एक भारतीय सज्जन रूस गये थे। उनका स्वागत करने के लिये जो रूसी सज्जन आये थे, उन्होंने हाथ मिलाने के लिये बढ़ा हुआ अपना हाथ तुरन्त पीछे कर लिया। भारतीय सज्जन भौंचक हुए कि क्यों हाथ पीछे कर लिया गया। उन्होंने जिज्ञासा की तो उत्तर मिला कि आपका हाथ तो बहुत कोमल है। हमारे यहाँ ऐसा हाथ उसका समझा जाता है

जो महनत नहीं करता, वरन् महनत करने वालों का शोषण करता है। इसलिये आपको हाथ मिलाने में सावधानी से काम लेना चाहिये।'

उन्होंने समझा कि कोई सनकी होगा यह, इसलिये बात हँस कर टाल दी। किन्तु बाद में वे जिससे भी मिले, उसी ने अपना बढ़ाया हुआ हाथ मिलाने से पहिले ही खींच लिया, जैसे किसी बिच्छू ने डंक मार दिया हो।

मनुष्य की विभिन्नता के यह दृष्ट सामाजिक रूप से ही नहीं देखे जाते, अध्यात्म पक्ष में भी हम देखते हैं कि मत वैभिन्न का बोलबाला है। कोई ईश्वर को मानता है, कोई खुदा को तो कोई गौड को। किन्तु यह तो अन्तराष्ट्रीय साम्प्रदायिक मतभेद रहे। हम हिन्दुओं में ही देखें तो भी सिख, जैन, बौद्ध, सनातनी, शैव, वैष्णव, शाक्त आदि न जानें कितने मत-मतान्तर मिलेंगे।

कोई राम की पूजा करता है, कोई कृष्ण की, कोई वराह की तो कोई नृसिंह आदि की। कोई हनुमान का भक्त है तो कोई देवी का और उससे कहो कि अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करो थोड़ा तो वह कभी भी तैयार नहीं होगा इसके लिये।

इस प्रकार एक ही भगवान् के अनेक रूप खड़े कर दिये हैं हमने। और यह सभी रूप थोपे हुए हैं ऊपर से, जैसे कि हनुमान के भक्त उन पर सिन्दूर आदि थोप कर चोला चढ़ाना कहते हैं उसे। आज-कल तो भैरव आदि पर भी सिन्दूर थोप दिया जाता है। लोगों की ऊपरी भावना उभरती है तो छोटे-से पाषाण-खण्ड को भी सिन्दूर पोतकर देवता की मान्यता दे देते हैं।

किन्तु सिन्दूर लगे पाषाण खण्ड को देवता भी भय के कारण ही माना जाता है। हमें डर लगता है कि शायद इस पाषाण में देवता के प्राण आ गये हों तो हमारे द्वारा अवमानना करने पर कहीं रूष्ट न हो जाय, जिसके फल स्वरूप हमें किसी प्रकार के कष्ट का सामना करना पड़े।

और इस प्रकार का भय भी 'मैं' की मान्यता ने ही उत्पन्न किया है। 'मैं' एक ऐसा रोग फैला है, जिसकी वृद्धि रोकना कठिन हीं है। यदि इस रोग की दवा की जाय तो बड़े-बड़े उसके परिणाम को सहन नहीं कर पायेंगे। विशेष कर वे पदाधिकारी, वे बड़ें लोग जिनकी प्रतिष्ठा के लिये 'मैं' ही नींव की ईट बना हुआ है।

आप जब 'मैं' में होते हैं तब किसी को कुछ नही समझते। कोई आता है, आप फटकार देते हैं उसे। कोई उंघता है, आप जगा देते हैं उसे, कोई खाता है, आप उसका कर्त्तव्य बताते हुए कहते हैं कि भोजन का यह समय नही, यह ड्यूटी का समय है। इस समय अपने फर्ज का ध्यान रखना चाहिये।

किन्तु सोचिये कि आप अपने फर्ज का कितना ध्यान रखते हैं ? शायद फर्ज की बात दूसरों के लिये ही उचित हो। शायद 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' वाली उक्ति चरितार्थ करना हो आपने अपना फ़र्ज बना लिया हो।

बड़ा अधिकारी छोटे अधिकारी को फर्ज का उपदेश करता है। छोटा अधिकारी सोचता हैं कि फर्ज का भुगतान क्यों न हाथ की हाथ कर दिया जाय। वह अपने सहायक को बुला कर फर्ज का उपदेश पिलाता है उसे। वह भी उस धरोहर को अपने से नीचे वाले के पास पहुंचा देता है। इस प्रकार सभी कुछ 'थ्रू प्रॉपर चेनल' होता है और वर्तमान में जो 'थ्रू प्रॉपर चेनल' हो वही फर्ज है।

और यह फर्ज भी उसी 'मैं' का आविष्कार है। 'मैं' के रङ्ग में रङ्गा हुआ बड़ा अधिकारी अपना फर्ज उतना ही समझता है, जितना ऊपर की पंक्तियों में बता दिया है। हमने। यदि छोटा अधिकारी उसे फर्ज निर्वाह करने को कहे तो वह उसके 'मैं' पर करारी चोट होगी और वह उसी प्रकार रूष्ट होगा, जैसे चोट खाया हुआ सर्प रूष्ट हो जाता है।

इससे स्पष्ट है कि संसार में जितनी भी मान्यताएँ हैं, सभी थोपी हुई है। जितने भी फर्ज हैं, वे भी अनचाहे ही ओढ़ लिये हैं मनुष्य ने। यदि उनके प्रति कोई चाहना होती तो बड़े-छोटे का भेद बाधक नहीं बनता उसमें। हमारा दर्शन कहता है कि कोई बालक भी हित की बात कहे तो उसे ध्यान से सुन कर व्यवहार में लाना चाहिये। किन्तु आज न तो कोई इस पर विश्वास करता है और न उस ओर ध्यान ही देता हैं।

द्वैत से चित्त हटाओ—

'मैं' ने ही द्वैत को उत्पन्न किया, उसी ने 'तू' को खड़ा किया। आप उसी 'मैं' के भार से दबे हुए सरल मार्ग पर भी ठीक प्रकार से नहीं चल पाते। आप सुख में होते हैं तो सभी कुछ भूले रहते हैं। किन्तु दुःख में होते है तो परमात्मा को याद करते हैं। जब आप परमात्मा को पुकारते हैं तब भी आपको यह जानकारी नहीं होती कि आपके हृदय में जो बैठा है, वही परमात्मा है। दूसरों के हृदयों में जो है, वह भी वही है जो आपके हृदय में है।

इसलिये विश्वास कीजियें कि परमात्मा कहीं बाहर से नहीं आयेगा आपकी सहायता के लिये। यदि आपको वास्तविक सहायता की आवश्यकता है तो अपने भीतर के ब्रह्म को सचेत कीजिये, उसके मध्य में आई हुई दीवाल को हटा दीजिये। जब आप ऐसा करने में सफल होंगे तब आप अपनीं सहायता में समर्थ हो जाँयगे। यही सामर्थ्य आपको दूसरों की सहायता की भी सुविधा प्रदान कर देगी।

आप स्वयं परमात्मा हैं, स्वयं ईश्वर हैं, स्वयं ही ब्रह्म हैं। जो आप स्वयं हैं, वही दूसरे शरीरधारी हैं। आप अपने मन में द्वैत को मत पालिये। क्योंकि आत्मा में द्वैत नहीं है। शरीर के कारण जो द्वैत दिखाई देता है, वह शरीर के नष्ट होने पर स्वयं नष्ट हो जाता है।

आप अपने में अद्वैत की भावना बनाइये। क्योंकि वहीं सत्य है। जो आत्मा है वही परमात्मा है, इस विश्वास के साथ यदि आप द्वैत-रहित हो सकें तो अवश्य ही 'मैं' और 'तू' का यह निरर्थक भेद शीघ्र हीं दूर हो सकता है।

किसी का चित्त मत दुखाइये। व्रत लीजिये कि हमारे द्वारा मन, वचन, कर्म से किसी का अपकार न हो। ध्यान रखिये कि दूसरे का आप अपकार करते हैं तो अपना ही अपकार करते है। उसके चित्त दुखने का प्रभाव आप पर भी पड़े बिना नहीं रह सकता।

आप द्वैत रखते हैं तो सम्भव है कि आपके मन में अपने ही हित की बात रहे और समझें कि जो कुछ हमारे हित में है वही सत्य है। किन्तु निश्चय ही वह आपके अनुकूल नहीं हो सकता। यदि कोई दूसरा भी आपका चित्त दुखाये तो उससे प्रतिशोध लेने का प्रयत्न न कीजिये। 'जो ताकूँ काँटे बोये बाकूँ वो तू फूल' वाली बात जिसने कही होगी, वह कितना बड़ा अद्वैतवादी और दार्शनिक होगा।

और कल्याण का एक ही आरम्भिक उपाय है, वह यह कि अपनी बुद्धि को द्वैत से हटालो। जब तक द्वैत रहेगा मस्तिष्क में तब तक कल्याण की आकांक्षा वैसी ही धूमिल हो जाती है, जैसे पारस के मिलने की आकांक्षा। क्योंकि पारस, यदि हो भी संसार में तो वह अलभ्य है। इसी कारण न जानें कितनों ने खोजा उसे किन्तु प्राप्त कोई भी न कर सका।

एक बार एक महात्मा से चर्चा चल गई पारस की। वे महात्मा उत्तराखण्ड, नेपाल, तिब्बत आदि स्थानों में बहुत समय रहे थे। उन्हें वहाँ के पत्थरों, पर्वतीय द्रव्यों, जड़ी-बूटियों आदि का भी पर्याप्त ज्ञान बताया जाता था। उन्होंने बताया कि मुझे तो पारस जैसे गुणों का कोई ऐसा पत्थर कभी नहीं मिला, जिसके स्पर्श से लोहा सोना बन जाता हो। यद्यपि एक दम काले, चिकने, चमकदार, गोल आकार के

अनेक पत्थर मिले हैं।

उन्होंने कुछ पत्थर दिखाये भी थे जो बड़े आकर्षक थे। उनका कथन था कि पारस से तो नहीं, जड़ी-बूटियों से तो सोना बनता हमने भी देखा है। एक महात्मा मिले थे, बहुत उम्र थी उनकी, शायद सवा सौ-डेढ़ सौ वर्ष हो। उन्होंने हमारे सामने ही पर्वतीय जड़ियों के रस से ताम्बे को सोने में बदल दिया था।

उनकी बात पर अविश्वास का कोई कारण नहीं था। दिल्ली के बिड़ला मन्दिर में जहाँ एक अखाड़ा-सा बना था, वहां हमने लिखा देखा था कि अमुक महात्मा ने अमुक-अमुक की उपस्थिति में सोना बना कर दिखाया था। किन्तु आधुनिक विज्ञान इसे मानने को ही तैयार नहीं है। उसका मत है कि एक पदार्थ अपने को दूसरे पदार्थ के रूप में बदल ही नहीं सकता।

किन्तु हमें इससे मतलब नहीं कि प्राचीन मान्यता क्या है और आधुनिक विज्ञान क्या कहता है? हमारा अभिप्राय तो यही है कि एक आत्मा ही ऐसा है जो अपरिवर्तनीय है, उससे भिन्य तो जो कुछ भी है वह सभी बदल जाने वाला है। इसलिये जो अपरिवर्तनीय है वही शाश्वत है, वही सत्य है। आप उसी सत्य को सत्य मानते हुए सत्य स्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर सकते हैं। वही सत्य आपकी भँवर में डूबती हुई जीवन नौका को पार करने में समर्थ हो सकता हैं और वही सत्य आपको उस वैतरणी के प्रवाह से बचा सकता है।

सत्य का रहस्य–

आपको जानना चाहिये कि सत्य क्या है? लाखों वर्षों से कहा जाता रहा है कि वह करो जो सत्य हो। असत्य को छोड़ दो, अपने आचरण को शुद्ध पवित्र बनाओ, किसी को मारो मत, किसी को निन्दा मत करों। किन्तु इतने से ही सत्य का मार्ग प्रशस्त नहीं हो पाता, इसलिये

और भी बहुत:सी बातें कही जाती रही हैं।

किन्तु जो सत्य को जानता ही नहीं, वह पालन कैसे करेगा उसका ? सत्य का पालन करने के लिये बुनियादी आवश्यकता है उसे जानने की। जब आप सत्य को जान लेंगे तभी उससे साक्षात्कार करना चाहेंगे। जब सत्य से साक्षात्कार हो जायगा, तब सत्य का पालन तो स्वयं ही हो जायगा। और सत्य का पालन होगा तब आचरण भी शुद्ध होने लगेगा।

सत्य के बोध से ही प्रेम की उत्पत्ति होती है। सत्य का बोध होता है तो असत्य एक भयंकर हथियार जैसा दिखाई देता है। पता चल जाता है कि वही हथियार हमें काटता चला जा रहा था। असत्य की असलियत खुलने पर हम सजग हो सकते हैं। प्रेम का प्रवाह तो तभी उमड़ता है भीतर जब हम सत्य को जान लेते हैं। किन्तु सत्य को नहीं जानते तो असत्य हमें दबाये रहता है। उसी प्रकार जैसे हम लेटें और किसी काली चादर में अपने को छिपाले। किन्तु चादर को हम जब चाहे तब हटा सकते हैं। असत्य को हटाना असम्भव होता है।

और समझ लीजिये आप कि असत्य की कोई सत्ता नहीं है। वह तो सत्य का विरोधी है, किन्तु विरोधी होते हुए भी नकारात्मक है। और जो नकारात्मक हो, जो नैगेटिव हो उसे आप उटा कर तो फेंक नहीं सकते हैं। क्योंकि फैका वही जा सकता है, जिसकी सत्ता हो। जिसकी सत्ता नहीं उसे पकड़ेंगे कैसे ? और जो वस्तु पकड़ने में न आये तो उसके समक्ष आपको विवश होना होता है, लाचार होना होता है।

कहीं अन्धकार हो तो उसे दूर करने का उपाय प्रकाश ही है। जितना तीव्र प्रकाश होगा, अन्धकार भी उतना ही अधिक दूर भागेगा। इसी प्रकार असत्य को दूर करने का एक मात्र उपाय सत्य ही है। आप सत्य के द्वारा असत्य और सहकारियों को परास्त करने में शीघ्र सफल हो सकते हैं।

आप असत्य को उठा नही सकते, फेंक नहीं सकते, किन्तु सत्य को ला सकते हैं। सत्य के आने पर असत्य को भागना ही होगा। इसी

प्रकार आप क्रोध करते हैं तो उसे छोड़ नहीं सकते । आपके स्वभाव में पड़ा होता है क्रोध, इसलिये आपको होश ही नहीं रहता कि कब आगया क्रोध ? क्यों आगया क्रोध ? और तब न चाहते हुये भी क्रोध आ ही जाता है ।

प्रत्येक व्यक्ति अपने को सही और दूसरे को गलत समझता है । समझता न भी हो तो दिखावे के लिये तो मानता ही है । आप क्रोध करते हैं और कोई पूछे आपसे कि क्यों किया क्रोध ? तो आप कहेंगे कि उसने अमुक गलती की थी। आपको उसकी गलती का तो ध्यान रहता है, किन्तु अपनी गलती का ध्यान नहीं रहता, जबकि हमें क्रोध आता है तो उसमें अपना दोष भी, चाहे न्यूनतम मात्रा में ही हो, कुछ तो होगा ही ।

तो हम कहते हैं कि आपके स्वभाव में क्रोध है तो आप उसे छोड़ नहीं पाते । । जाने-अनजाने क्रोध का प्रदर्शन कर ही बैटते हैं । किन्तु आप क्रोध न छोड़ सकें तो भी करुणा तो उत्पन्न कर ही सकते हैं । आपने अपने मन में करुणा उत्पन्न कर ली तो क्रोध स्वयं ही शान्त हो जायगा । क्योंकि करुणा आती है तो क्रोध चला जाता है, वह ठहर ही नही सकता करुणा के सामने ।

आप किसी हिंसक से कहिये कि 'भाई हिंसा करना छोड़ दो ।' हो सकता है कि वह आपकी बात का कोई उत्तर न दे आपको और अन-सुनी कर दे । हो सकता है कि आपके सामने अपने निर्दोष होने की सफाई पेश करे । हो सकता है कि आप पर ही बिगड़ खड़ा हो, जिससे आपको भी अपने ही कथन पर कुछ झुँझलाहट उत्पन्न हो जाय ।

किन्तु आप हिंसक से अहिंसा की चर्चा न करके केवल प्रेम करने की बात कहें । वह भीं इस प्रकार नहीं कि अमुक व्यक्ति से प्रेम करो । वरन् इस प्रकार कि संसार में प्रेम की बहुत बड़ी शक्ति है । उसके आचरण से आप शत्रु पर भी विजय प्राप्त कर सकते हैं । यह एक महा

मंत्र है जो मुझे अमुक सिद्ध ने बताया था ।

पहिले तो वह समझेगा कि आपको किसी ने कोई शत्रु वशीकरण वाला मन्त्र बता दिया है । यदि मन्त्र जप में आपकी आस्था हुई तो वह अवश्य ही आपकी ओर ध्यान देगा और लालायित हो उठेगा उसका विधान जानने के लिये । किन्तु जिसे मन्त्र जप में अधिक विश्वास न हुआ तो भी आपसे रुष्ट तो नहीं ही होगा ।

और संभव है कि आप की बात को सुने तो प्रेम करने को तैयार हो जाय वह । संभव हैं कि वह अपने व्यवहार में प्रेम लाने लगे । यदि कहीं वह प्रेम का व्यवहार करने लगा तो उसके स्वभाव से अहिंसा चलीं जायगी, क्रोध चला जायगा, शत्रु भाव चला जायगा ।

निषेधात्मक सुझावों का कुफल--

आपको समझना चाहिये कि किसी बात के नकारात्मक प्रयत्न से आप किसी के स्वभाव में परिवर्तन शायद ही ला सकें । आप नकारात्मक सुझावों की अपेक्षा स्वीकारात्मक सुझाव दें तो वे शीघ्र ग्रहण किये जा सकते है । स्वीकारात्मक सुझावों के फल स्वरूप जो भी परिवर्तन होंगे किसी में वे विधायक होगे और जो भी विधायक परिवर्तन होंगे वे अधिक टिकाऊ होंगे ।

आप कहते हैं कि धर्म हमें छोड़ने को कह ै । वह कहता है कि पाप को छोड़ों, वह कहता है कि चालाकी ें, वह कहता है कि किसी को धोखा मत दो । आप भीं और भीं कुछ ऐसी ही निषेधात्मक बाते कहते हैं धर्म की ओट में । किन्तु आप देखेंगे कि उसका कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता है सम्बन्धित मनुष्य पर । किन्तु आप कहें कि पुण्य करो, ईमानदार बनो तो शायद आपके इस कथन का उस पर अधिक प्रभाव पड़े ।

और योग शास्त्र के रचयिता पतंजलि ने अधिकांशतः विधायक

परिवर्तन वाली शिक्षा ही देने का प्रयत्न किया है। उन्होंने भी नहीं कहा कि यह मत करो, वह मत करो। उन्होंने यमनियमों के वर्णन में कहा— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के रूप में पांच यमों की चर्चा की। इसी प्रकार शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान के रूप में पांच नियमों का उपदेश किया।

जहाँ वे अहिंसा की बात कहते हैं वहाँ उसका अर्थ प्राणिमात्र से प्रेम करना ही होता है। जहाँ वे सत्य का उपदेश करते हैं वहां उनका अभिप्राय यही हैं कि जो सत्य है उसका ग्रहण करो, जहाँ अस्तेय की चर्चा करते हैं उसका तात्पर्य है कि दूसरों के अधिकारों का ध्यान रखो। यह प्रयत्न करो कि उसे वह मिल सके जिसका वह अधिकारी है। जैसे कोई मजदूर है तो उसे उतना अवश्य दिलवाने का प्रयत्न करो, जितना उसने परिश्रम किया है। जहाँ ब्रह्मचर्य का निर्देश हुआ है, वहां उसका अर्थ है कि वीर्य की रक्षा करो, क्योंकि वीर्य ही शक्ति है शरीर की। वीर्य की रक्षा होगी तो आप स्वस्थ रहेंगे। वीर्य की रक्षा करेंगे तो दीर्घायु हो जायगे। अपरिग्रह का अर्थ भी स्पष्ट है कि आवश्यकता के अनुसार ही वस्तुओं का संचय करो। अधिक संचय करोगे तो चोर-डाकुओं का डर रहेगा। और चोर-डाकू न भी छीन ले गये तो अन्त में तो सब कुछ यहीं पड़ा रह जायगा।

पतंजलि ने शौच की बात कही है तो उसका अभिप्राय है कि शरीर को शुद्ध रखो। न रखोंगे शुद्ध तो रोग उत्पन्न हो सकते हैं बीमार पड़ सकते हैं और बीमार पड़ेंगे तो आयु पर भी प्रभाव पड़ेगा ही। क्रियाशीलता पर भी प्रभाव पड़ना अवश्य भावी है। इसमें मन की शुद्धि भी आजाती है। क्योंकि मन और शरीर का परस्पर में गहरा सम्बन्ध है। शरीर अशुद्ध तो मन अशुद्ध और मन अशुद्ध तो शरीर अशुद्ध। इसलिये दोनों प्रकार की शुद्धि आवश्यक मानीं गई है।

संतोष का अर्थ है—अधिक परेशान न हों, जो मिल जाय उसी को

सहर्ष स्वीकार करें । इससे आपका मन प्रसन्न रहेगा, आप स्वस्थ रहेंगे पूर्ण रूप से । एक लोकोक्ति है 'सन्तोषी सदा सुखी' आप सन्तोष रखते है तो दुःखित रहने का कोई कारण नही ।

तप का अभिप्राय है शरीर को सहिष्णु बनाना । इतनी सहन शक्ति अर्जित करो कि दुःखो को सह सको सरलता से । यदि सहन शक्ति न होगी तो किसी आकस्मिक विपत्ति आने पर बहुत कष्ट उठाना पड़ सकता है ।

स्वाध्याय का तात्पर्य है—उपयोगी ग्रन्थों का अध्ययन करों । अध्ययन के द्वारा आपको ज्ञान की प्राप्ति हो सकती हैं । आप जान सकते हैं ज्ञातव्य बातों को । ग्रंथ आध्यात्मिक हैं तो आप आत्मा और परमात्मा के विषय में भी जो यथार्थ है उससे परिचित हो सकते हैं ।

ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है—परमात्मा पर विश्वास करो । उसका पूजन करो । परमात्मा सत्य है, प्राणी की अन्तिम गति वही है । आपके भीतर वही है, बाह्य संसार में भी वही विद्यमान है । वह एक होकर भी अनन्त रूप वाला है, अनन्त शक्ति वाला है। और जो अनन्त रूप तथा अनन्त शक्ति से सम्पन्न है उसकी शरण में जाना ही अन्तिम ध्येय हो सकता है जीव का ।

तो पतंजलि के यह उपदेश दो सूत्रों में विद्यमान हैं सार रूप में । वे सब नकारात्मक नहीं, स्वीकारात्मक हैं । उनमें जो कुछ भी है सब विधायक है । यह बात भिन्न है कि आप उसे निषेधात्मक रूप से कहें । यदि निषेधात्मक रुप से कहेंगे तो उसका विपरीत प्रभाव पड़ना सम्भावित है ।

और आप इन यम-नियमों को विधायक रूप में, धनात्मक रूप में स्वीकार करते हैं तो वह आपके लिये छोड़ने का उपदेश नहीं होगा । उसे आप त्याग के रूप में न लेकर उपलब्धि के रूप में लें । समझलें कि हम कुछ खो नहीं रहे हैं इसके द्वारा, वरन् प्राप्त कर रहे हैं ।

आपको कुछ प्राप्त करना है अपने जीवन में तो किसी भी उपदेश को निषेधात्मक रूप में न लें, वरन् विधायक रूप में ही लें। अपने अतीत पर दृष्टि डालें इस दृष्टि से कि विगत जीवन में क्या-क्या त्रुटियाँ बन गई हैं आपसे ? यदि सम्भव हो तो दृष्टि में आने वाली त्रुटियों में सुधार करते चलें। यदि सुधार करेंगे धीरे-धीरे तो एक दिन पायेंगे कि आश्चर्य जनक रूप से परिवर्तन हो गया है जीवनचर्या में। और उस परिवर्तन में अधिक स्थायित्व होगा। क्योंकि उस परिवर्तन में मुख्य कारण स्वेच्छा ही है। जो कार्य स्वेच्छा से किया जाता है, उसमें किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव नहीं होता।

और कष्ट का अनुभव न होना ही सुख रूप है, वही आनन्द है। आपने जो प्राप्त किया है आनन्द उससे अपने रोम-रोम को तरो ताजा कर लीजिये। आपके भीतर जो कुछ भी है उसे विकसित कर लीजिये खिला लीजिये एक-एक कली को वह फूल बन जांयें और वे फूल आप के जीवन को दिव्य सुगन्ध से भर दें।

किन्तु यदि आप धनात्मक को ऋणात्मक मान कर उससे द्वेष करते रहेंगे तो आप सुख से वंचित रहेंगे। आपके भीतर जो विकास शील है वह अविकसित ही रह जायगा। फिर आपको लगेगा कि हम दुःख में पड़े हैं। और जब आप किसी असुविधा को दुःख की संज्ञा देंगे तो वह एक बहुत बड़ा पहाड़ बन कर खड़ा हो जायगा आपके सामने। अब आपके लिये यह कठिनाई उपस्थित होगी कि उसका निवारण किस प्रकार हो ? जब आप की मान्यता ही विपरीत रहेगी तब उस विपत्ति से छुटकारे का उपाय भी एक समस्या बन जायगी।

दुःख-सुख से परे हैं आत्मा–

आत्मा सर्वानन्द रूप है, वह कभी न दुःखी होता है, न सुखी होता है। अर्थात् उसे संसार का कोई भी दुःख-सुख कभी भी प्रभावित नहीं

कर सकता । यदि आप अपने में दुःख-सुख की कल्पना करते है तो आत्मा का अपमान करते है। और जो आत्मा का अपमान है वह परमात्मा का ही अपमान है। आपके वैसे भाव का अर्थ होगा कि आपको परमात्मा में और उसकी सत्ता में विश्वास नहीं है। आप नहीं चाहते उस विचारधारा से ऊपर उठना जो आपको धी-धीरे समस्याओं में उलझाती जाती है। समस्याएँ बढ़ती जातीं हैं और उसमें उलझते जाते हैं। लौकिक दृष्टिकोण से सुलझाने का प्रयास करते हैं तो वह जितना ही प्रयास किया जाता है, उतनी ही उलझन बढ़ती जाती है।

आप आत्मा के स्वरूप को अपने बुद्धि वैपर्य से देखते हैं तो तस्वीर उल्टी दिखाई देती है। जो सत्य है वह विपरीत बुद्धि के कारण असत्य प्रतीत होता है। और जो प्रतीत होता हैं उसी को आप अपनाते हैं। किन्तु क्या असत्य को अपनाना युक्ति संगत होगा ? क्या उससे आप अपना कुछ उपकार कर सकेंगे ?

यदि आप उक्त प्रश्नों का उत्तर अपने से ही लेना चाहें तो एकान्त भाव से, मन को सुस्थिर करके विचार कीजिये उस पर। यद्यपि विचार करेंगे तो तर्क-वितर्कों का ताना-बाना भी बुनता रह सकता है। किन्तु विवेक बुद्धि उससे विमोहित नहीं हो सकती। आप विवेक से काम लेंगे तो पायेंगे कि आत्मा के विपरीत ज्ञान से आप बहुत बड़ा अनर्थ कर रहे हैं। आत्मा का विपरीत ज्ञान ही आपको असत्य में डाले हुए और उसी से आप बहुत बड़े अधार्मिक होते जा रहे हैं। किन्तु आप उस विपरीत ज्ञान के कारण ही स्वयं को धार्मिक मान रहे हैं।

और मंजा यह कि आप चाहते हैं धार्मिक रहना। अधार्मिक शब्द से ही आप चौंक पड़ते हैं, जैसे कोई मार्ग में दलदल देखकर चौंक पड़े। उसे लगे कि यह दलदल मुझे फँसा लेगी और फिर भी घर पहुँचने की जल्दी में वह उसी दलदल में प्रविष्ट हो जाय।

जो दलदल में प्रविष्ट होगा, उसे खतरे का आभास तो रहेगा। वह

प्रयत्न तो करेगा उससे बचने का। किन्तु आपको तो उसका आभास ही नही है कि जिधर जा रहे हैं उधर कोई बहुत बड़ीं दलदल है अधार्मिकता की। शायद आपने महाभारत का यह वृतान्त सुना हो कि पाण्डवों के लिये मय दानव ने एक विचित्र रचना की थी। ऐसीं थी वह रचना कि जहाँ थल हो वहां जल दिखाई पड़े और जहाँ जल हो वहाँ थल। जहाँ दीवाल हो वहां जीने का भ्रम और जीना हो वहां दीवाल का भ्रम अभिप्राय यह कि उस रचना में जो कुछ भी था वह भ्रम रूप ही था।

और पाण्डवों ने वह रचना दिखाई उस दुर्योधन को जो वुद्धि वैपर्य के कारण पहिले से ही भ्रमित था। क्या हुआ कि एक स्थान पर उसने सहसा अपने अधोवस्त्र ऊपर की ओर समेटे। पाण्डवों ने पूछा— 'भाई क्यों समेटते हो वस्त्र ?' वह बोला— 'देखते नही, आगे पानी है।' किन्तु वहाँ पानी था ही नहीं, पानी को चित्रित किया गया था इस रूप में कि वह दिखाई पड़े।

आगे ले जाया गया दुर्योधन। बेचारा सहज गति से चल रहा था कि धड़ाम से पानी में जा गिरा। क्या हुआ ? क्या हुआ ? कहते हुए उठाया गया उसे। मीठे शब्दों की मरहम-पट्टी भी की गई उसके घावों पर और सूखे वस्त्र भी बदलने को दिये गये। इसके बाद फिर आगे बढ़े तो एक स्थान पर दीवाल पर जीने के भ्रम के कारण सिर टकरा गया उसका। बेचारे को बड़ी चोट लगी।

सबसे अधिक चोट उस समय लगी जब कि एक स्थान पर जीना था, किन्तु दिखाई न देता था। दुर्योधन जा पड़ा उस जीने में। दुःख तो पाण्डवों को भी था उसका, किन्तु इस बार भी हमदर्दी प्रकट करने के अतिरिक्त और कर भी क्या सकते थे वे।

किन्तु मनुष्य जब मूर्खतापूर्ण कार्यों को करके दुःख उठाता है तब नियति भी हँसी उड़ाती है उसकी। दुर्योधन के भ्रमित रहने पर द्रोपदी ने भी उसी प्रकार हँसी उड़ाई और कहा— 'बेचारे को दिखाई भी कहाँ

से दे ? अन्धे का पुत्र है न !' उस समय दुर्भावना रूपी शकुनी ने बताया उसे— 'राजन् ! द्रौपदी तुम्हारा बड़ा भारी अपमान कर रही है, अन्धे का पुत्र बताती है आपको ।'

बस, महाभारत रूपी महाविनाश का आरम्भ यही से होता है । इसने द्रोपदी को उसमें कारण बनाया, जबकि कारण उसका मतिभ्रम ही था मुख्य रूप से । आप कह सकते हैं कि अनजान स्थान और मायामयी रचना तो दुर्योधन का क्या दोष था उसमें ? किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि दुर्योधन ने बुद्धि से काम नही लिया । अन्यथा जैसे ही उसे थल में जल का भ्रम हुआ था वैसे ही सँभल जाना चाहिये था । यदि सँभल कर चलता तो शायद उस प्रकार की दुर्दशा की नौबत नही आती ।

नियति सावधान करती भी है–

और प्रत्येक ऐसा मनुष्य जिकने शरीर को ही सब कुछ समझा हुआ है, असावधानी से चला रहा है अपनी जीवन यात्रा । वह न दलदल देखता है, न पानी, न जीना, समतल भूमि समझ कर बढ़ रहा है, इसलिये बार-बार फँसता-निकलता, बार-बार भीगता-गिरता और चोट खाता रहता है । नियति सावधान करना चाहती है तो भी सँभलता नही, वरन् शकुनियों के बहकावे में राग, द्वेष, ईर्ष्या, क्रोधादि के अग्नि कुण्ड में स्वयं को धकेल देता है । वह दूसरों को मारने चलता है, किन्तु स्वयं ही पिट जाता है ।

आज हम सभी की दशा दुर्योधन जैसी ही है । हम किसी के भी उपदेश पर ध्यान नहीं देते । किसी भी हितैषी की बात पर ध्यान नहीं देते, वरन् उसे अपना शत्रु ही मान बैठते हैं । मजा यह कि जो परमात्मा आत्मा रूप से बैठा है हमारे भीतर उसकी भी उपेक्षा करते हैं । समझते हैं कि वह भी कुछ नहीं । दुर्योधन ने कहा था कि कृष्ण कुछ नहीं मैं क़ैद

करूँगा कृष्ण को। किन्तु कृष्ण को कौन रख सकता था कैद में? सब के देखते-देखते चले गये।

आप समझते हैं कि यदि कोई परमात्मा है भी हमारे भीतर तो हमारी कैद में पड़ा है। जिसे हमने कैद में डाला हुआ है, उसकी शक्ति-सामर्थ्य भी क्या हो सकती है? किन्तु नहीं जानते कि हम उसी की शक्ति से जीवित हैं। वही हमारी गति-विधियों के संचालन में कारण है। जब वह जाना चाहता है कृष्ण की तरह तो हम उसे रोक नहीं सकते। आत्मा जाता है शरीर से तो वह निष्प्राण और निष्क्रिय हो जाता है। आत्मा-रहित शरीर सड़ने-गलने लगता है, और अन्त में पंचतत्व में मिल जाता है।

आप देहाध्यास में पड़े हैं और ईर्ष्या करते हैं दूसरों से तो और भी अधिक अधार्मिक कार्य करते हैं। क्योंकि स्वयं के व्यक्तित्व को किसी की ईर्ष्या में ले जाने से बढ़ कर कोई भी अधार्मिक कार्य नहीं है। यदि तात्विक दृष्टि से देखें तो प्रतीत होगा कि ईर्ष्या ही सब झंझटों की जड़ है। आप ईर्ष्या करते हैं तो धीरे-धीरे जमती हुई वही ईर्ष्या द्वेष रूप हो जायगी। ईर्ष्या जननी है द्वेष की चाहे वह स्वयं ही उस रूप को धारण कर ले अथवा कोई दूसरा प्रतिरूप खड़ा कर ले। द्वेष है तो उसका सहयोगी क्रोध भी आ टपकेगा कहीं से और वह सीधा प्रहार करेगा आपकी आदत पर आप कितने ही शान्ति प्रिय हों, यदि क्रोध के चक्कर में पड़ गये तो समस्त शान्ति को ही तिलांजलि दे बैठेंगे।

यदि ईर्ष्या करनी है तो अपने से ही करो। अपने विगत जीवन को देखो और उसमें यदि कुछ महान् हो तो पुनः उस महानता को पकड़ने का प्रयत्न करो। यदि कुछ ईर्ष्या योग्य है तो महानता ही है। वही प्रतिस्पर्द्धा के योग्य हो सकती है। अपने से की गई ईर्ष्या या प्रति-स्पर्द्धा द्वेष का कारण नहीं बनेगी और न उससे क्रोध की ही उत्पत्ति हो सकेगी।

अपने से जो स्पर्द्धा रहेगी आपकी, उसके कारण अवश्य ही किसी नवीन संकल्प का उदय होगा। आप सोचेंगे कि हमें कुछ न कुछ ऐसा अवश्य करना है, जो हमारा उत्थान कर सके। जो हमें किसी ऐसी दिशा में ले जा सके जो कल्याणकारी हो।

ध्यान रखिये—आप कितने ही कठोर हृदय क्यों न हों, उसमें कितनी ही क्रूरता क्यो न हो, उसके किसी न किसी कोने में प्रेम अवश्य ही होगा। संसार में जितने भी क्रूर मनुष्य हुए हैं अब तक उनमें प्रेम की भी मात्रा रही है। हिटलर, मुसोलिनी आदि जैसे अत्यन्त क्रूर भी प्रेम से रहित रहे हों, यह नहीं कहा जा सकता।

तो, आपका जो नवीन संकल्प होगा उसमें प्रेम का स्फुरण स्वाभाविक है। विवेक जाग्रत होता है तो सद्गुणों की वृद्धि करता है, जिससे संकल्पवान होने लगता है मनुष्य। आप में सद्गुणों की जितनी अधिक वृद्धि होगी उतने ही अधिक शुभ संकल्पों का उदय होगा आपके मन में।

और यदि आपका मन प्रेम का संकल्प लेता है तो समझिये कि आपकी दिशा ही बदल गई। जिसके मन में प्रेम समा गया है, वह सत्य के मार्ग पर ही बढ़ेगा और एक दिन वह होगा जब उसे प्राप्ति हो जायगी लक्ष्य की। उस समय वह कृत-कृत्य हो जायगा।

आप देखते हैं कि आपका कोई प्रियजन किसी से द्वेष करता है और आप चाहते हैं कि वह उससे द्वेष न करे तो उस विषय में आपको सावधानी से काम लेना होगा। आप उसे कहें कि अमुक से द्वेष न करो तो वह आपकी बात न माने शायद। किन्तु यदि आप उससे कहें कि प्रेम करो, जीवन में प्रेम करने का अभ्यास डालो तो बहुत संभव है कि उसके मन में प्रेम का उदय हो जाय और जब प्रेम का उदय हो जायगा तब द्वेष तो स्वयं ही चला जायगा।

मन को स्थिर करने का उपाय—

अपने मन को भी निषेधात्मक स्थिति में न डालो। मन को न रोको बलपूर्वक, जिधर जाता है जाने दो। यदि रोकोगे तो वह अवश्य जायगा। जितनी अधिक रोकोगे, उतना ही अधिक दौड़ेगा। क्योंकि निषेध तो नकारात्मक है ही। आप निषेध करते हैं तो दूसरी ओर से स्वीकार की संभावना नहीं हो सकती।

मन का स्वभावहै चंचलता। शास्त्र कहते हैं कि मन की चंचलता को रोको। शास्त्रों का कहना कुछ अनुचित नहीं है, किन्तु चंचलता को रोकना भी कोई सरल कार्य नहीं है। और यह भी ठीक है कि आत्म-वान होना है तो मन को स्थिर करना ही होगा, अब कैसे हो यह दोनों एक साथ कि मन भी स्थिर हो, किन्तु निषेध भी न करना पड़े।

और यह अधिक सम्भव है उससे, जिसमें प्रयत्न करने पर भी सफ-लता नहीं मिलती। आप निषेध का मार्ग मत अपनाइये। मन जाता है है जिधर उधर ही जाने दीजिये उसे। किसी स्त्री की ओर आकर्षित हुआ तो कितनी बार? किसी पकवान-मिठाई आदि के रसास्वादन के लिये दौडा तो कितनी बार? सैर-सपाटे के लिये निकला तो कितनी वार? और भी अनेक विषयों में जा सकता है, किन्तु किस विषय में कितनी बार गया? और उसके जाने का कारण क्या रहा?

यह कोई ऐसा विषय नहीं, जिसमें अधिक सतर्कता की अपेक्षा हो। सहज रूप से ही निरीक्षण का यह कार्य चलता रहना चाहिये। बस, आपकी इतनी सी प्रवृत्ति ही आपके मन को धीरे-धीरे ठिकाने पर लाने लगेगी। न जोर, न जबर्दस्ती, सब कुछ स्वाभाविक, सभी कुछ सुविधा-जनक रूप से।

मान लीजिये कि आपमें कोई दुर्गुण है, उसकी जानकारी किसी ऐसे व्यक्ति को हो जाय, जिसे अधिकार हो आपको अनुशासन में रखने का, और वह व्यक्ति जानते हुए भी आपके उस दुर्गुण के विषय में

आपसे तो कुछ कहे नहीं, किन्तु आपकी गति-विधियों पर निगाह रखने लगे तो आप अवश्य ही सतर्क हो जाँयगे। आप उस गलत कार्य को जब-तक करेंगे और उस स्थिति में, जिसमें कि वह व्यक्ति वेखबर रहे। किन्तु आप पाते हैं कि उसकी सतर्कता बढ़ती जा रही है तो आपको उस गलत कार्य के लिये अवसर ही शायद न मिले। आप स्वयं ही चाहेंगे कि आपकी पवित्रता का अनुभव हो उसे, और इसी प्रयास में आपकी आदत बदलने लगेगी।

अपने उस गुरुजन की दृष्टि से बचने के लिये जैसे आप बदलने लगते हैं, वैसे ही आपकी दृष्टि से बचने के लिये आपका मन भी बदलने लगेगा। फिर एक दिन आप देखेंगे कि आपका मन अपेक्षित रूप में स्थिर होने लगा है। यह मन को स्थिर करने का विधायक उपाय है। इसमें निषेध नहीं है, बल का प्रयोग भी नहीं है, जो कुछ भी है, सब स्वाभाविक। सब कुछ ऐसा जो सदा से रहा हो, अत्यन्त परिवर्तन, किन्तु आपको पता भी नहीं कि कब परिवर्तन हो गया ? आपको जानकारी भी नहीं कि आपका मन कब संकल्पवान हो गया ?

आप कितना भी जोर लगा लें। जो नैगेटिव है वह उसी स्थिति में रहेगा। स्थिति बलनने के लिये आपको निषेध रूपी तलवार को म्यान में बन्द करके खूँटी पर टाँग देनी होगी। जब आप ऐसा करेंगे तो आपकी धनात्मक प्रवृत्ति होगी। जहाँ नैगेटिव व्यर्थ हो गया, वहाँ पौजीटिव से काम लेने का प्रयत्न करें तो शायद सफलता मिल सके।

इसी विश्वास के साथ अपने क्रिया-कलाप को बदलिये। अपनी गति-विधियों में परिवर्तन लाइये। उसमें भी निषेध से काम न लेने का ही प्रयास कीजिये। क्योंकि निषेध तो सर्वत्र एक अडिग दीवाल के रूप में खड़ा हो जाता है बीच में। आपको वह दीवाल हटानी है तो विधायक उपाय ही उपयुक्त हो सकते है उसके लिये।

आज हम देखते है कि लोग धार्मिक बने रह कर भी बड़े अधार्मिक

हैं। उसका एक बुनियादी कारण है, वह यह कि धर्म ने अधिकांश में निषेधात्मक रूख ही अपनाया हुआ है। यह न करो, वह न करो, इसे छोड़ों. उसे छोड़ों। अब जो लोग धार्मिक भी बने रहना चाहते हैं और कुछ छोड़ना भी नहीं चाहते, उनके सामने यह एक बहुत बड़ी समस्या खड़ी हो गई। उन्होंने सोचा—सब कुछ करो, मगर छिप कर, कुछ भी मत छोड़ो, किन्तु उसे छिपा कर रखो। कहो कि धर्म जिसका निषेध करता है; हम उसे नहीं करते। यह भी कहो कि धर्म ने जो कुछ भी छोड़ने को कहा, वह सभी हमने छोड़ दिया है। और बस, इतने से ही आप बने हुए हैं पक्के धार्मिक। जो कुछ भी हो छिपा कर होना चाहिये, फिर आपकी धार्मिकता पर कोई आँच नही आ सकती।

समझ जाना चाहिये इससे कि धर्म के निषेध ने ही धार्मिकों की आड़ में अधार्मिकों की बड़ी फौज खड़ी कर दी है। आज दिखाई देने वाले अधिकांश धार्मिक लोग अपने आश्रय में अधर्म को पाले हुए हैं। किन्तु आप समझते हैं कि वे जो कुछ कहते और करते हैं वही धर्म है। उसी से उद्धार होना है मानव समाज का।

वह भ्रम अब विश्वास का रूप ले चुका है, इसलिये उसका विरोध आपके ही विरोध में खड़ा हो जायगा। आप जिसकी बात का विरोध करेंगे, वही बात आपका विरोध करेगी। इस प्रकार विरोध या निषेध का काम अब बड़े जोखिम का काम हो गया है। आपके इस दिशा में सँभल कर कदम रखने की आवश्यकता होगी। तब भी सम्भव है कि आपके कदम डगमगा उठें। सम्भव है आपके कदम चूक जाँय।

इसीलिये, अब निषेध का समय समाप्त प्रायः है। निषेध का युग, हो सकता है कि पहिले रहा हो। क्योंकि पहिले लोग प्रायः सीधी-सच्ची बात कहते थे और सभी बड़े-छोटे लोग उनका आदेश पालन करने में तत्पर रहते थे। इसलिये उनकी बातों का प्रभाव भी होता था।

उस समय एक भय भी व्याप्त था समाज में कि यदि हम ऋषियों

की बात का अनादर करेंगे तो वे हमें शाप दे देंगे, जिसके फल स्वरूप हमारी दुर्गति हो सकती है। वही भय उस समय धर्म का रक्षक बना हुआ था और धार्मिक बनाता था लोगों को।

आज के धार्मिक भी उस भय का सहारा लेते हैं लोगो को धार्मिक बनाने में। किन्तु, आज का धार्मिक स्वयं ही धर्म को तलवार की धार समझ कर उससे बचना चाहता है। वह सोचता है कि जो धर्म पुराना पड़ गया है, वह हमारे लिये आचरणीय न हो तो भी प्रतिष्ठा का कारण तो हो ही सकता है। संसार में मूर्खों की संख्या कम नहीं है, इसलिये हम उन पर अपनी मान्यताएँ लादे रहने में सफय हो सकते हैं।

किन्तु उनका ढँग अब भी वही निषेधात्मक है। आप जब तक निषेध का सहारा लेते रहेंगे, धर्म का स्वरूप ऊपर से कुछ और भीतर से कुछ रहेगा। निषेध धर्म के नाम पर ही लोगों में अधर्म को पनपता रहेगा। इसके विपरीत यदि आप विधायक विधि का प्रयोग करते हैं तो आपकी सफलता के अवसर बहुत कुछ बढ़ जाते हैं। इसलिये यदि आप अपना कल्याण चाहते हैं, मानव जाति का कल्याण चाहते हैं तो निषेधात्मक नीति का आश्रय न लीजिये। विधायक नीति से ही लोकोपकार सम्भव होगा।

सुख और दुःख का अभाव ही शान्ति, आनन्द, ज्ञान और मोक्ष है

समाज शास्त्रियों ने मानव की गति विधियों का बहुत समय तक सूक्ष्म रूप से अन्वेषण किया। उनके समय एक कर्त्तव्य था समाज को उचित दिशा दिखाने का और उचित दिशा तब दिखाई जा सकती है

जब स्वयं सभी दिशाओं का ज्ञान करके निष्कर्ष निकाल लिया हो कि कौन-सी दिशा उपयुक्त रह सकती है ?

जब उन्हे उन दिशाओं का स्वयं ज्ञान हो गया तब उन्होंने सोचा कि मनुष्य जीवन के चार उद्देश्य हो सकते है— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। यदि मनुष्य इन उद्देश्यों की पूर्ति के प्रयत्न में लग जाय तो उसका जीवन अवश्य ही सफल हो सकता हैं।

इन उद्देश्यों की पूर्ति सुचारू रूप से हो सके, इस उद्देश्य से उन्होंने मनुष्य की आयु और तत्सम्बन्धी क्रिया कलाओ के अनुसार चार आश्रमों की कल्पना की। जिनमें प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम, दूसरा गृहस्थाश्रम, तीसरा वानप्रस्थाश्रम और चौथा संन्यासाश्रम रहा।

ब्रह्मचर्याश्रम की आयु यद्यपि वह आयु है, जिसमें बालक शिक्षा ग्रहण करने के लिये गुरु-गृह में जाकर रहता था। गुरु का यह कार्य होता थां कि शिष्य को सभी व्यवहारों में योग्य बनाने का प्रयत्न करे और जब तक वह रहे तब तक उसे पुत्रवत सुविधाएँ प्रदान करे। शिष्य का भी कर्त्तव्य होता था कि गुरु को पिता से भी अधिक सम्मान दे और सेवा करे। गुरु की आज्ञा उसके लिये ईश्वर की आज्ञा से कम नहीं होती थी।

प्राचीन गुरु भी शिष्य के प्रति कुछ कम उदार नहीं रहते थे। वे उनके प्रति अत्यन्त प्रेम रखते और उन्हे सब से प्रेम रखने का उपदेश देते। वे उन्हें निषेधात्मक कम और विधायक शिक्षा अधिक देने का प्रयत्न करते थे। उस समय के शिष्यों में गुरु के प्रति इतनी श्रद्धा रहती थी कि वे निषेध को भी विधायक के समान हीं स्वीकार कर लेते थे। गुरु जो कहते उसे मानना ही अपना परम कर्त्तव्य समझते थे शिष्य गण।

कितु, आज के गुरुओं में वह प्रेम नहीं, वह कर्त्तव्य भावना नहीं, क्योंकि आज शिक्षा के बदले में पैसे कीं ही प्रधानता हैं। गुरुओं को पैसे

से मतलब और शिष्यों को अपनी सुविधाओं से मतलब। उनमें भी न तो गुरु के प्रति आदर है, न निष्ठा हीं। सभी में परिवर्तन हुआ है, उतना परिवर्तन जो रूप ही बदल दे। उस परिवर्तन ने तस्वीर ही बदल दी हैं।

शिक्षा की आयु से पहिले बालक की आयु खेलने की होती हैं। इस में भी माता-पिता चाहे तो वह विधायक रूप से व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करता रह सकता है। खेलने कीं आयु में तो स्वतः ही ब्रह्मचर्य का पालन होता रहता है। शिक्षा कीं आयु में भी ब्रह्मचर्य की अनिवार्यता स्वीकार की जाती रही है।

मनुष्य जीवन का जो प्रथम उद्देश्य माना गया धर्म, वह जीवन के आरम्भ से व्यवहार में आ जाता है। बालक जब माता का स्तन पान करता है तभी से जानने लगता है कि यह माता है। और बालक दूध पिलाने वाली को माता जानने लगे यही धर्म है। धर्म की शुरूआत यहों से हो जाती हैं उसके जीवन में। फिर वह ज्यों-ज्यों होश सँभालता है. त्यों-त्यों अपने अन्य सम्बन्धियों भाई, वहन, चाचा, ताऊ आदि के रिश्तों को समझने लगता है। उसके साथ ही उन-उन रिश्तों के प्रति उनकी निष्ठा जाग्रत हो जाती है।

धर्म का आरम्भ बालकपन से होता और जीवन के अन्त तक रहता हैं। ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी, संन्यासी कोई भी हो, उस के लिए धर्म का पालन अनिवार्य किया गया। किन्तु सभी आश्रमों का धर्म उन उनके अनुरूप हैं। सभी को अपने-अपने धर्म में रहना ही निर्दिष्ट है। पराये धर्म में रहने का कोई अर्थ नही। पराये धर्म का पालन करता है कोई, तो समझा जाताा है कि वह धर्म से गिर गया हैं।

ब्रह्मचर्य के बाद आता है गृहस्थाश्रम। उसका अपना धर्म है। गृहस्थी चलाने के लिये पैसा चाहिये, इसलिये गृहस्थ में जो सर्व प्रथम आवश्यकता समझी गई, वह अर्थ की ही थी। अर्थ अर्थात् धन, धन के

बिना गृहस्थी चल ही नहीं सकती। भोजन, वस्त्र, तथा अन्य जीवनोपयोगी वस्तुओं का उपार्जन और संचय धन से ही सम्भव है। दान-पुण्यादि के लिये भी धन चाहिये। इसीलिये अर्थ को भी धार्मिक प्रक्रिया में सम्मिलित किया गया।

जब गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया है तो काम-सेवन भी अपेक्षित होगा किन्तु गृहस्थ रूपी रथ के दो पहिये हैं स्त्री और पुरुष। जब तक यह दोनों न हों तब तक उस घर को गृहस्थ नहीं कह सकते। स्त्री-पुरुष गृहस्थ में रहते हैं अभिन्न भाव से, यदि उनमें मतैक्य नही, प्रेम नहीं, तो गृहस्थाश्रम विषादमय बन जाता हैं। और जहाँ विषाद हो वहाँ से धर्म भी चला जाता हैं।

इस प्रकार मनुष्य जीवन के दो उद्देश्यों की पूर्ति गृहस्थाश्रम में ही होती हैं। अन्य आश्रमों के लिये अर्थ और काम का कोई महत्व नहीं। उन सभी में तो निस्पृहता ही कर्त्तव्य समझी जाती है।

जो लोग गृहस्थाश्रम से निकल जाना चाहते है, उनके लिये उसके अनुरूप आदत बनानी होती है! वानप्रस्थाश्रम का उद्देश्य यही है कि उसमें रह कर संन्यास के लिये उपयुक्त पृष्ठ भूमि तैयार की जाय। यदि आप वानप्रस्थी होते हैं तो उसका अभिप्राय यह नहीं कि आपने घर छोड़ दिया है। बरन् उसका तात्पर्य यह है कि आप अपने भीतर उन सम्भावनाओं को टटोलें कि संन्यास में जा सकते है या नहीं। यदि न जा सकते हों संन्यास में तो गृहस्थ में रहना भी कुछ अधर्म-संगत नहीं होगा। क्योंकि उस संन्यास से तो गृहस्थ ही अच्छा, जिसमें आपका मन लौट लौट कर गृहस्थ की ओर देखना चाहे।

सभी संसारी हैं–

आप सन्यासाश्रम में जाते हैं संसार का त्याग करके, तो यह कोई निश्चय नहीं है कि आप उसके धर्म का पालन कर ही सकें पूर्ण रूप से।

किन्तु उस स्थिति में भी आप संसार त्यागी कहलाने के हकदार अवश्य बने रहते हैं। आप ढिंढोरा पीट सकते हैं कि हम असंसारी हैं।

चारों आश्रमों में से कोई भी ऐसा नहीं जो संसार में न हो। गृहस्थी भी संसार मैं रहता है और संन्यासी भी, तो कैसे कह सकते हैं कि एक संसारी है और दूसरा असंसारी !

और जो जीवित मनुष्य अपने को असंसारी कहता है वह भ्रम में है उसने जान बूझ कर एक ऐसा पर्दा डाल लिया है अपनी आँखों पर जो यथार्थ को नहीं देखने देता। आप पानी में सूर्य की छाया देखते हैं तो उसे सूर्य नहीं कह सकते। क्योंकि सूर्य आकाश में है, नंगी आँखों से उसे देख भी नहीं सकते। देखेंगे तो आँखे खराब हो सकतीं हैं। किन्तु पानी में जो छाया है सूर्य की उसे देखना कुछ कठिन नहीं। क्योंकि उसमें न तो सूर्य के समान प्रकाश की तीव्रता रहती है, न धूप की गर्मी ही। वरन् उसमें रह सकती है पानी की शीतलता, जो असहाय या हानिप्रद नही हो सकती।

हाँ, गृहस्थी ओर संन्यासी में इतना अन्तर अवश्य है कि प्रथम तो संसार से चिपटा रहना चाहता है और दूसरा भागना चाहता है भीड़ भरे संसार से। एक चल रहा है एक दिशा में तो दूसरा दूसरी दिशा में दोनों की दिशाएँ भिन्न-भिन्न होते हुए भी संसार से वाहर नहीं जाती।

गृहस्थी रागी है तो संन्यासी वीत रागी। किन्तु दोनों ही कभी-कभी अपने स्थान से हटने लगते हैं। जहाँ मोक्ष का प्रश्न है, वहां ज्ञानी पुरुषों का यह कहना है कि मोक्ष की प्राप्ति के लिये राग ओर विराग दोनों से ऊपर उठना होता है। क्योंकि राग बाँधता है कर्मों में तो बिरागी भी बाँधे बिना नही छोड़ता। यदि मोक्ष की कामना है, यदि परमात्मा की प्राप्ति की इच्छा है तो न रागी रहो न विरागी। राग होगा तो पाप कर्म हो सकते हैं, विराग हो तव तो पुण्य कर्म ही होने चाहिये। किन्तु

कर्मों का क्षय हुए बिना आपको मोक्ष रूपी उस उद्देश्य की, जो अन्तिम पुरुषार्थ माना है समाज शास्त्रियों ने उपलब्धि नहीं हो सकती ।

राग को छोड़ते हो और विराग लेते हो तो न राग छूटेगा न विराग मिलेगा । राग को छोड़ने के साथ विराग को भी छोड़ दोगे तो कहा जा सकता है कि कुछ बात बन गई । क्योंकि राग में तो अहंकार विद्यमान है ही, विराग में भी यह कहना कठिन ही है कि अहंकार नहीं है । यदि अहंकार नहीं हो किसी में, तो उसकी कार्य-प्रणाली में विशेष अन्तर होगा, उसकीं मुख मुद्रा में भी परिवर्तन रहेगा सामान्य व्यक्तियों से ।

एक बार एक महात्मा के दर्शनों का सौभाग्य मिला । उनके मुख पर तेज दिखाई पड़ता था । लगता था कि उस तेज की आभा मुख के बाहर वलय बना रही है । उनके वार्तालाप से ऐसा लगा कि मृदु भाषी हों और सत्यवक्ता भी हों । उनसे उनके मुख-मण्डल पर व्याप्त तेज के विषय में ही प्रश्न कर दिया एक भक्त ने ।

महात्मा बोले—'मुख पर तेज होना कोई चमत्कार नहीं है । आप आहार-विहार को नियमित रखते है तो तेजस्वी हो सकते है । आप अहंकार के चंगुल से मुक्त कर सकते हैं अपने को, तो भी तेजस्वी हो सकते है । आप काम, क्रोध पर नियंत्रण रखें तो भी तेजस्वी हो सकते हैं । बस, इतना ही करके देखिये, किसी दिन पायेंगे कि जीवन की धारा ही बदल गई हैं ।

मोक्ष की भ्रान्ति–

और आप मोक्ष की बात करते हैं तो शायद उसमें कुछ भ्रान्ति है । जिस समाज शास्त्री ने मोक्ष को पुरुषार्थ की संज्ञा दी थी, शायद उस का उद्देश्य आज की समझ से कुछ दूसरा ही रहा हो । आज के विचारकों ने मोक्ष की जो व्याख्या की है, सम्भव है कि उसने उस व्याख्या के

विषय में कभी सोचा भी न हो ।

आत्मा जब शरीर में रहता है, तब कहते हैं कि यह बन्धन में पड़ा है। जब वह शरीर को छोड़ कर जाता है तब समझा जाता है कि शरीर के वन्धन से छूट गया, मुक्त हो गया । तो वहाँ मोक्ष कहने का अभिप्राय यह हो सकता है कि ऐसे कर्म करो जीवन में, जिन के प्रभाव से आत्मा को पुनः शरीर के वन्धन में न पड़ना पड़े। और यह तभी होगा जब आप राग-विराग से दूर रहेंगे और आत्मज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्न करेगे ।

यदि मोक्ष का अर्थ किसी अन्य रूप में ले तो हम कह सकते है कि आत्मा तो स्वयं ही पूर्ण रूप से मुक्त है। आप उसे मुक्त नहीं मानते तो अवश्य ही किसी भ्रान्ति मैं पड़े हैं। जो मुक्त है, उसे मुक्त न मानना अज्ञान के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

अज्ञान का अर्थ क्या है ? इसे भी समझने का प्रयत्न करो। जो यथार्थ से विपरीत अर्थ को व्यक्त करे, वही अज्ञान है । उसी को लोग भ्रम भी कहते हैं । आप भ्रमित हो रहे है तो अज्ञान में ही पड़े है। उस अज्ञान को दूर करना ही मोक्ष का यथार्थ स्वरूप है ।

और आप किसी विषय में तल्लीन होते हैं तो होश खो बैठते हैं। आपको ध्यान नहीं रहता कि कहाँ हैं हम ? यदि चल रहें हैं तो किस दिशा में ? यह भी पता नहीं कि जिस मार्ग में चल रहे है, उसमें, बीच में ही एक भयंकर खाई पड़ती है, यदि उसमें गिर गये तो ? न जाने कितने लोग गिर जाते हैं इस प्रकार ।

आज का मनुष्य इसी बेहोशी में मरता है । उसे पता नही रहता कि मैं मर रहा हूँ । उसे पता नहीं रहता कि मैं मर कर कहाँ जाने वाला हूं ? यह पता न रहना आपको अवनति में डाल सकता है । आप का आगामी जन्म हो सकता है कि इस जन्म से खराब स्थिति में हो। हो सकता है कि आपको इतना भी सुयोग न मिल सके, जो इस जन्म

में मिला है।

यदि आप अधिक तल्लीन न रह कर सजग रहने का प्रयत्न करे तो अपने इस जीवन में तो बहुत कुछ पा ही सकते है, अगला जन्म भी आपकी इच्छानुसार सुविधाओं से सम्पन्न हो सकता है। आप अपनी अभिलाषा के अनुरूप वंश में जन्म लेने का भी सुयोग प्राप्त कर सकते है।

और इसीलिये हम कहते हैं कि आप जो साधना करे बह सजगता की साधना रहे। आप ध्यान में जाँय तो प्रयत्न करे सजग रहने का। क्योंकि यदि डूब गये ध्यान में तो उसमें होने वाली अनुभूतियों से भी आप वंचित रहेगे।

हम नहीं कहते कि आप अपनी चित्तवृत्ति को ध्येयाकार न होने दें। आप चिन्तन करें ध्येय का तो वृत्ति भी वैसी होनी चाहिये ? किन्तु जो भी हो वह बेहोशी के साथ नहो, सजगता के साथ रहे। आप सजग रहते हैं तो अपने निर्दिष्ट मार्ग पर चल सकते हैं। आप सजग रहते हैं तो मार्ग भ्रष्ट होने से बचे रह सकते हैं। आप सजग रहते हैं उस द्वार पर पहुँच सकते है सरलता पूर्वक। और मजा यह कि सजगता ही उस द्वार को खोलने की कुंजी बन जायेगी।

सजगता रहती है तो मार्ग दिखाई देता है ठीक प्रकार से, चलते हैं तो चले जा सकते हैं द्वार के समीप तक। आप सजग रहते है तो जैसे ही द्वार खुले भगवान् का वैसे ही उसमें प्रविष्ट हो सकते हैं। सजगता का महत्व लौकिक जीवन में भी हैं और पार लौकिक जीवन में भी। आप अपने को मूर्च्छा से बचाइये। यह मूर्च्छा ही आपको भूल में डाले हुए है। इसी ने आपको अहंकार के चंगुल में डाल रखा है। आप उससे बचना चाहते हैं तो होंश में आ जाइये। यदि होश में आ जाते हैं तो सभी बाधाएं पलायमान हो जाँयगी और आप अभूतपूर्व उपलब्धियों के स्वामी हो जाँयगे।

आप सजग रहते हैं तो साक्षी भाव दृढ़ होता है। आप सजग होते हैं तो दुर्मति दूर होकर विवेक जाग्रत् होता हैं। वह विवेक जिसमें आप यह निश्चय करले कि 'जो दिखाई पड़ रहा है वह मैं नही हूँ। मैं तो दिखाई पड़ते हुए को देख रहा हूँ। मैं दृश्य नहीं हूँ। मैं तो दिखाई पड़ने हुए को देख रहा हूँ। मैं दृश्य नहीं दृष्टा हूँ। में कर्ता नहीं, साक्षी हूँ।'

और इस प्रकार का विवेक ही आप को यथार्थ का ज्ञान करा देता है। किन्तु विवेक तभी होगा जब जागरण होगा। जब आप चैतन्य होंगे तब अपने प्रति, आत्मा के प्रति, परमात्मा के प्रति आस्थावान हो जांयगे। आस्थावान होना ही आत्मवान होना हैं।

आनन्द क्या है–

कुछ लोग पूछते हैं कि 'आनन्द सुख का ही एक भेद होना चाहिये। यदि वैसा नहीं है तो फिर आनन्द है क्या वस्तु ?'

इसके समाधान स्वरूप हम कहना चाहेगे कि सुख का सम्बन्ध शरीर से है, संसार से है। दुःख भी शरीर और संसार से ही सम्बन्धित हैं। आनन्द से न शरीर का सम्बन्ध है, न संसार का ही। जिसमें सुख और दुःख दोनों का ही अभाव हो वह आनन्द हैं।

ध्यान रखिये कि आनन्द वह है, जिसे बाहर की कोई भी वस्तु प्रभावित नहीं कर सकती। जब चित्तवृत्ति बाह्य विषयों से अप्रभावित हो जाती है तभी आनन्द की ओर गति कर सकती है। जब चित्त पूर्ण रूप से शान्त हो, जब उसमें प्रेम-रस का प्रवाह उमड़ रहा हो तब उस की स्थिति आनन्द में होती है।

लोग समझते है कि संसार में जो दुःख है; वही अशान्ति का कारण हैं, सुख अशान्ति का कारण नहीं होता। वस्तुतः ऐसी समझ वाले लोग बहुत बड़ी भ्रान्ति पाले हुए हैं अपने में। अशान्ति दोनों में

ही है। सुख और दुःख दोनों ही अशान्ति से भरे हुए हैं। किन्तु दोनों की अशान्तियों में अन्तर हैं। सुख की अशान्ति अच्छी लगती है जबकि दुःख की अशान्ति अच्छी नहीं लगती।

दुःख यदि अधिक हो तो बहुत कष्टकारी बन जाता है। दुःख के कारण मनुष्य की मृत्यु तक हो सकती है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सुख में कोई परेशानी न होती हो। सुख भी जब सहन शक्ति से अधिक बढ़ जाता है तो मार डालता है मनुष्य को। हमने अनेक घटनाएँ ऐसी सुनी हैं जिनमें मृत्यु का कारण सुख ही था। अकस्मात् सुख की प्राप्ति हुई और उसी समय मौत हो गई।

एक व्यक्ति को धरती में गढ़ा धन मिला। बहुत गरीब था बेचारा। उस अपार सम्पत्ति को देखकर हर्ष के कारण आंखे खुली की खुली रह गईं। एक व्यक्ति की लाटरी खुली, बस वह लाटरी क्या थी, मौत का परवाना थी। एक व्यक्ति के इकलौते बेटे का ब्याह था। विवाह-संस्कार का कार्य विधिवत् चल रहा था। किन्तु जिसका बेटा था, उसकी हृदय गति रुक गई। एक सज्जन की दिवाली बड़ी अच्छी हुई थी उस वर्ष। बड़े प्रसन्न मन से उमंग-उत्साह के साथ लक्ष्मी-पूजन करने बैठे कि हार्ट फेल के शिकार हो गये।

यह सभी घटनाएँ बताती हैं कि सुख में भी मृत्यु हो जाती है मनुष्य की। न जाने कितनों के लिये सुख ही प्राण लेने वाला सिद्ध हुआ है। सामान्य सुख भी अनेक बार दुःख रूप बन जाता है। आपने शायद स्वयं भी अनुभव किया हो कभी कि सुख का परिणाम दुःख के रूप में भुगतना पड़ा।

किन्तु आनन्द में किसी प्रकार की उत्तेजना नहीं होती। किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। बाहर की कोई भी अशान्ति आनन्द की शान्ति में व्यवधान उपस्थित नहीं कर सकती। आनन्द को कोई भी बाह्य कम्पन उद्वेलित नहीं कर सकता।

जो कुछ बाहर वही परिवर्तनशील है, वही प्रभावित हो सकता है उन कम्पनों से । सुख-दुःख अनित्य हैं, वे सदा नहीं रहते । आज जो सुख है वह कल गायब हो जाता है । आज जो दुःख है वह भी बना नही रहता । इस प्रकार दोनों की अनुभूतियां भी सदा नहीं रह सकती । यह भी सम्भव नही कि आज जो सुख है, कल भी है, किन्तु आज की अनुभूति कुछ और थी, कल की अनुभूति कुछ और । यही हाल दुःख का है ।

आप दुःख को अच्छा नहीं मानते, वह परेशान करने वाला है । किन्तु जिस को हितकर मानते हैं, वह भी परेशान किये बिना न रहेगा । विश्वास कीजिये कि सुख और दुःख दोनों ही बन्धन रूप है । शायद इसका अनुभव भी किया हो आपने ।

सुख-दुःख दोनों ही आपको माया-मोह में फँसाते हैं । अहंकार के चंगुल में डालते हैं । किन्तु आनन्द में किसी प्रकार पहुँच जाते हैं आप, कभी उसका थोड़ा-सा भी अनुभव कर लेते है तो माया-मोह आपको बाँध नही सकते । अहंकार आपको अपने जाल में बाँधे नही रह सकता क्योंकि आनन्द स्वतंत्र है, उसमें परतन्त्रता का लेश भी नहीं है ।

जब आप आनन्द का अनुभव करते हैं तो सजग रहते हैं । यदि बेहोश रहेंगे तो आनन्द का अनुभव नहीं कर सकते । और हम आपको स्पष्ट बता दें कि आनन्द कोई ऐसी वस्तु नहीं जो आपसे भिन्न हो। आनन्द आप में है और आप आनन्द में समाये हुए हैं । वह आनन्द आप के हृदय में है । वहीं प्रेम-रस का सागर तंरगित हो रहा है । आप उस तक पहुँचते है तो आत्मा तक पहुँच जाते हैं । वही आत्मा आनन्द स्वरूप है, वही परमात्मा है । इस प्रकार आनन्द पर्याय है आत्मा का और परमात्मा का भी ।

किन्तु आनन्द को सभी ने समान दृष्टि से देखा या समझा होता तो उसकी उपलब्धियों का लाभ वे भी उठा सकते थे जो आनन्द की खोज

में हैं। दृष्टि-भेद सदा ही बाधक रहा है यथार्थ में और उसके फल स्वरूप हम किसी एक निश्चय पर नहीं पहुंच पाते।

आनन्द को भी दो दृष्टियों से देखा गया है। एक है ज्ञान की दृष्टि और दूसरी अज्ञान की। जिन्होंने ज्ञान की दृष्टि से देखा, उन्होंने तो जान लिया कि आनन्द उन दिव्य अनुभूतियों की सर्वोच्च स्थिति है जो सभी को प्राप्त नहीं हो सकती सहज में। उसके अधिकारी तो वहीं हैं जो सांसारिक दु:ख-सुख को कुछ भी नहीं समझते। उनके विचार में दु:ख-सुख तो मन की भ्रान्ति है, मन की ही उपज है। मन ने जिस स्थिति को दु:ख माना वह कष्टदायक बन गई, जिसे सुख माना प्रिया लगने लगी।

एक बार, एक महात्मा ने कहा था कि 'सुख कहाँ नहीं है? दु:ख कहाँ नहीं है? जहाँ संसार हैं वहां यह दोनों है। चारों आश्रमों में सुख दु:ख हैं, चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति में भी हमें उनका अनुभव होता है। गृहस्थ दु:खी है तो संन्यासी भी सुखी नहीं है। सुखी वही संन्यासी है, जिसने आत्मा को जान लिया है, जिसने प्रेम को जान लिया है। इसी जानकारी को हम ज्ञान कहते है। यदि हमें ज्ञान की उपलब्धि हो जाती है तो आनन्द की भी उपलब्धि हो जाती है।

किन्तु ऐसे संन्यासी हैं कितने जिन्होंने आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया हो। बेचारे संन्यासी बन कर भी उसी ऊहापोह में लगे हुए है, जिसमें गृहस्थ जीवन में लगे थे। वहां भी अशान्त थे और यहां भी अशान्त रहते हैं। सोचते थे कि संन्यासी होकर झंझट से छूट जाँयगे। किन्तु झंझट से छूटना तो दूर, उसमें फँस गये है उल्टे।'

और यह झंझट में फँसना ही अज्ञान की दृष्टि है। जो लोग आत्मा को जानने में रुचि नहीं रखते वे आनन्द को इसी दृष्टि से देखते हैं। साँसारिक सुख भी उनके लिये आनन्द बना हुआ है। बालक समझता है खेलने में ही आनन्द है। खिलाड़ियों का आनन्द जीत में है। विद्यार्थी

का आनन्द परीक्षा उत्तीर्ण होने में है। व्यापारी धनोपार्जन को आनन्द मानता है। ब्याज खोर का आनन्द ब्याज का धन मिलने में है। उसे मूलधन में उतना मोह नहीं होता जितना ब्याज में। चोर बाजारू का आनन्द ब्लैक की कमाई में है। स्त्रैण पुरुष स्त्री संग में ही आनन्द समझता है। भक्त का आनन्द भक्ति में और योगी का योग में है। जप, व्रत, यज्ञादि करने वाले उसी को आनन्द मानते हैं।

किन्तु यह सभी भ्रान्त हैं। सभी ने अपने-अपने ढंग से आनन्द का रूप मान लिया है। शायद आप सोचे कि 'ठीक है, बालक से लेकर स्त्रैण तक के जिस आनन्द की चर्चा की, उसे तो भ्रान्ति माने लेते हैं, किन्तु भक्त भक्ति करता है, योगी योगाभ्यास करता है, जापक जप करता है, व्रती व्रतोपवास करता है, याज्ञिक यज्ञ करता है। और भी बहुत-से लोग अपनी-अपनी विधि से विभिन्न प्रकार से शुभ कर्म करते है और वे सभी कर्म परमात्मा की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिये किये जाते हैं तो उनमें आनन्द क्यों नहीं हो सकता ?'

उन सभी में हो सकता है आनन्द, किन्तु होता नहीं। इसलिये नहीं होता कि भक्ति करने वाले बहुत हैं, किन्तु उनमें सच्चे भक्त कितने हैं ? जितने सच्चे भक्त होंगे वे ही अपनी भक्ति के सुदृढ़ होने पर आनन्द को प्राप्त हो सके होंगे। भक्ति के अनेक रूपों की चर्चा हुई है ग्रन्थों में। वे रूप भक्ति की परिपक्वता और भक्त की भावना के अनुसार ही निश्चित किये गये होंगे। आप भक्ति के द्वारा आनन्द प्राप्त करना चाहे तो अवश्य कर सकते हैं, किन्तु आपका अनन्य रूप से समर्पण होना चाहिये भगवान् के लिये। यह समझते हुए कि हमारा जो धर्म-कर्म है वह सब भगवान् के लिये ही है। भगवान् स्वयं ऐसा ही निर्देश करते हैं— 'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' समस्त धर्मों का परित्याग करके एकमात्र मेरी ही शरण में आ।' वस्तुतः इसी को कर्म-संन्यास माना गया है। यही पूर्ण समर्पण है, भक्त का आनन्द इसी में निहित है।

योगियों के विषय में भी यही बात है— योगाभ्यास कर रहे है, किन्तु मन नहीं लग रहा है। ध्यान के अभ्यास में लगे हैं, किन्तु मन तो ध्येय से दूर चला गया है। और जो मन ध्येय से दूर चला जाय, वह किस उपलब्धि का कारण हो सकता है ? काश, योगी का मन ध्यान में सहयोग करे और सजगता पूर्वक ध्येय में रम जाय तो कोई कारण नहीं कि आनन्द की प्राप्ति न हो सके।

जापकों की भी यही स्थिति है। ऐसे जापक थोड़े ही होंगे जो जप में अपना मन स्थिर रख सकें। अन्यथा मन तो इतना विकट है कि जिह्वा जप करती रहे मंत्र का और वह विलायतों का सैर-सपाटा करने निकल पड़ें। आनन्द उपलब्धि में न तो माला के दाने सहायक हो सकते हैं और न मन्त्र ही। सहायक हो सकता है केवल मन, यदि वह आपके साथ नहीं तो फिर असफलता ही हाथ लगेगी।

कुछ भाषाविदों ने जप को मन्त्र-योग की सज्ञा दी है। इसमें दो शब्द हैं— मन्त्र और योग। मन्त्र के साथ योग होना चाहिये मन का, तभी मन्त्रयोग हो सकता हैं। और मन्त्रयोग का इस यथार्थ रूप में होना ही आनन्द दायक हो सकेगा।

आप कहते हैं कि हम व्रत तो आनन्द के लिये ही करते हैं, फिर आनन्द क्यों नहीं मिलता ? इसलिये कि आप व्रत के नाम पर स्वयं को ही धोखे में डाले हुए हैं। बहुत से लोग व्रत के नाम पर खूब पकवान-मिठाई खाते हैं। इतना कि शायद और दिनों में उतना अधिक भोजन नहीं करते होंगे। आप कहेंगे कि 'वह तो कूट्टू, सिंघाड़ा, खोआ आदि से बना हुआ फलाहार होता हैं।' तो यह भी खूब अच्छी व्याख्या हुई फलाहार की। भई, फलाहार की बात कहते हो तो फलों का क्यों नहीं करते ? पकवान, मिठाई आदि बना कर पेट को बीमारी का घर क्यों बनाते हो ? उपवास का उद्देश्य पेट को हल्का रखना ही था। आप मास में एक बार, दो बार उपवास करते हैं तो आंतों पर पड़ने वाले

भार में कुछ कमी होनी चाहिये। आँतों पर भार कम होने की अवस्था में आपका शरीर हल्का रहेगा, मन हल्का रहेगा, जिससे भगवान् की आराधना में रुचि होगी। मन हल्का रहेगा तो आप ऊबेगे नहीं परमात्मा की उपासना से, उनके ध्यान से। किन्तु आज-कल उपवास ने जो विकृत रूप धारण किया है, उसके फल स्वरूप आंते भारी हो जाती है, पेट भारी हो जाता है, शरीर और मन भी भारी होता है। किसी-किसी को तो वैसा भोजन पचता नहीं, अजीर्ण तक हो जाता हैं। और आप कहते हैं उसे व्रतोपवास। आप कहते हैं उसे तपश्चर्या का एक अंग। आप कहते हैं कि उपवास धर्म में सहायक है। हो सकता है कि आपकी धारणा ठीक हो। किन्तु हम कहते हैं कि जिस प्रकार का उपवास आप करते है, वह न तो धर्म में सहायक है, न शरींर को स्वस्थ रखने में। और जिससे धर्म में सहायता न मिले, स्वास्थ्य में लाभ की अपेक्षा हानि की ही अधिक सम्भावना हो, उससे आनन्द की प्राप्ति तो कभी हो ही नहीं सकती।

सुखेषणा के त्याग से दुःखों से निवृत्ति–

यज्ञादि सकाम कर्मों के द्वारा भी आनन्द की प्राप्ति असंभव है। इस विषय में भी उपर्युक्त तथ्यों से ही समन्वय किया जा सकता है। हम इतना ही कहना पर्याप्त सयझते हैं कि निष्काम भाव से किये गये कर्म ही आनन्द की प्राप्ति में सहायक हो सकते हैं। सकाम भाव बाले कर्म तो सुख-दुःख प्राप्त कराने वाले हैं। इसलिये उन्हें करना भी भ्रान्ति ही है।

सकाम कर्मों के द्वारा आप दुःखो के निवारण और सुखों की प्राप्ति की आशा करते हैं। किन्तु काननाओं में जो सुख निहित है, वह प्रकार भेद से दुःख रूप ही हो जाता है। आप सुख चाहते है, तो मानों दुःख के लिये ही याचना करते हैं। फिर यह भी तो निश्चय नहीं कि आपमे

जिस सुख की कामना की है वह आपको मिल हीं जाय। इसलिये भी लौकिक सुख अथवा स्वर्गीय सुख भी एक प्रकार से भ्रान्त करने वाला ही बन जाता है।

यदि आप सुखैषणा का त्याग कर दें। यदि आप सुख की कामना से मुक्त हो जाँय तो आपको अयाचित रूप से ही दुःख की निवृत्ति का सुयोग प्राप्त हो सकता है। ध्यान रखिये कि जो मनुष्य सुख से मुक्ति पा लेता है, उसे दुःख से भी छुटकारा मिल जाता है।

आप सुख चाहते हैं तो सुख कहीं बिकता नहीं जो सहज में ही मिल जाय आपको। आप दुःख का त्याग करना चाहते हैं तो वह कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसे हाथ से दे दें किसी को। और दे भी सकते हो तो कोई लेगा ही क्यों ? जिसे आप नहीं चाहते, उसे कोई दूसरा क्यों चाहे ? उसे जितना हो दूर करना चाहोगे उतना ही आपकी ओर दौड़ेगा वह।

आपको सुख की इच्छा है तो दुःख की इच्छा कीजिये। जो लोग दुःख से डरते नहीं, वरन् उसका स्वागत करते है, दुःख उनके पास नहीं आता। प्रकृति का यह व्यतिक्रम प्रायः सर्वत्र देखा जाता है। शायद रेलगाड़ी के चलते समय आपने ध्यान दिया हो— इंजिन आगे बढ़ने से पहिले पीछे की ओर हटता है। गाड़ी चलने को होती है पहिले पीछे को धक्के खाती है और तब आगे की ओर बढ़ती है।

आप दुःख से बचने का प्रयत्न करते हैं तो दुःख का वरण ही करते है। उसे जितना धक्का देना चाहेंगे, उतने ही फँसते जांयगे उसके चंगुल में। बहुत से लोग इसी प्रकार का असफल प्रयत्न करते है किन्तु छुटकारा नहीं पाते उससे।

कुछ ऐसे भी हैं जो सुख को धकेलते हैं पीछे की ओर। वे उन्हें दुःख रूप जानकर गले नहीं लगाना चाहते। पर, प्रकृति की विपरीतता देखिये कि सुख उनकी ओर ही बढ़ता है। फिर भी जब कोई ठान ही ले मन में कि मुझे नहीं चाहिये सुख तो उन्हें उससे छुटकारे का अवसर भी

मिल ही जाता है। जब सुख से छुटकारा मिला तो दुःख से भी मिल गया।

और जिसे दुःख-सुख दोनों से छुटकारा मिला वही मुक्त हो गया। क्योंकि एक से छुटकारे का मतलब दोनों से छुटकारा मिलना है। आप समझले कि दुःख-सुख दोनों का जोड़ा है। यह दोनों साथ रहते हैं, किन्तु अपनी पारी बदल लेते हैं। कभी पृथक्-पृथक प्रकट होते हैं तो कभी साथ-साथ। आप अकेले और वे दो, दो हों तो उनमें ग्यारह गुनी शक्ति बढ़ जाती है। जब ग्यारह की शक्ति हो एक के सामने तो किसका पलड़ा भारी होगा, इसे कहने की आवश्यकता नहीं है।

अब आप सोचिये कि दुःख-सुख के साथ संसार है। उसकी समस्त गतिविधियों का निष्कर्ष दुःख-सुख ही है। आप दुःख-सुख से छूट जाते है तो संसार का भी कोई महत्त्व नहीं रहता उस स्थिति में। दुःख-सुख के निःशेष होने पर आप अकेले शेष रहते हैं, आप अकेले की जो शक्ति है वही शेष रह जाती है उस स्थिति में।

आप दुःख-सुख से छूटते हैं तभी, जब विवेक जाग्रत होता है, जब ज्ञान का प्राकटय हो जाता है। तो, समझ सकते हैं आप, कि दुःख-सुख के जाने पर जो शक्ति शेष रही, वही ज्ञान की ही शक्ति है। और जो शेष रह गई है ज्ञान की वह शक्ति, निश्चय ही एक उपलब्धि बन जाती है। हम जिसे आनन्द कहते हैं वह उस शक्ति से भिन्न नहीं, इसलिये हम उसे आनन्द ही क्यों न कहें ? निश्चय ही जो ज्ञान शक्ति है, वही आनन्द ही, वही प्रेम रूप आत्मा है। आप उस अनुपलब्ध उपलब्ध करके धन्य हो सकते हैं।

नशे में चूर चालक के समान—

किन्तु जब तक बाहर का प्रभाव रहता है आप पर, तब तक आप उस प्रकार की अवस्था को प्राप्त नही हो सकते, जिसे हम कृतार्थ होना

कह सके। क्योंकि वाहरी प्रभाव हमारी इन्द्रियों को अन्तर्मुखी नही होने देता और जब इन्द्रियां अन्तर्मुखी न हो तब तक रूप का बाजार खुला है हमारे सामने। हम देखते हैं पाँचों इन्द्रियों के भोगों को सजा हुआ। हम देखते हैं वे सभी सुविधाएँ जिनकी आवश्यकता है इन्द्रियों को। और इन्द्रियां कहती हैं— 'हमें प्रविष्ट होने दो रूप के बाजार में जहाँ सुस्वादु व्यंजन हैं जिन के लिये, जहां सुन्दर दृश्य हैं आखों के लिये, जहाँ कोमल स्पर्श है त्वचा के लिये, जहां मधुर शब्द हैं कानों के लिये, जहाँ मनोहारिणी सुगन्ध है नासा के लिये।'

और मन ? वह भी उनका साथी हो जाता है। उस समय उसकी स्थिति ऐसे चालक की सी होती है, जो नशे में हो और घोड़े जिधर जाते हैं उधर जाने दे। अधिक नशे में होता है चालक तो वह असमर्थ हो जाता है घोड़ों को नियंत्रित रखने में, उन्हें उचित दिशा निर्देश करने में। और जब वह गाड़ी चल पड़े घोड़ों की इच्छा से तो कहीं भी टकरा सकती है। किसी भी गढ़े में गिर सकती है।

आप अपने मन को तब तक नहीं सँभाल सकते, जब तक सुख-दुःख के झंझट में पड़े रहेगे। आपकी इसी दुर्बलता का लाभ उठाता है मन। क्योंकि आप सुख चाहते हैं और मन की समझ में आता है कि अमुक कर्म में सुख है तो वह उसी की प्राप्ति कराने में सहायक होता है।

आप मन के अधीन रहते हैं तो बन्धन में पड़े रहते हैं। मन का सम्बन्ध बाह्य विषयों से अधिक है, क्योंकि आपने उसे उन्हीं की ओर उन्मुख किया हुआ है। आप मन के अधीन है तो इन्द्रिय सम्बन्धी ज्ञान के ज्ञाता है। आप मन के अधीन नहीं है तो जो ज्ञान इन्द्रियों की पकड़ से बाहर है, आप उसके ज्ञाता हो जाते हैं। क्योंकि इन्द्रिय सम्बन्धी ज्ञान आपका अपना ज्ञान नहीं है। उसका आपसे कुछ भी सम्बन्ध नही हैं तो भी आप उससे भ्रमित हो रहे है।

आपका अपना ज्ञान तो इन्द्रियों से परे है। उसे हम अतीन्द्रिय ज्ञान

भी कह सकते हैं। उसका सम्बन्ध मन से नहीं आतमा से ही है। आतमा जिसे हम 'स्व' कहते हैं उसका ज्ञान ही हमें आनन्द की प्राप्ति करा सकता है। आनन्द उसी में है जो इन्द्रियों से सम्बन्धित नही है।

बाहरी जो कुछ भी है वह आतमा से सम्बन्धित नहीं है। यदि उस का सम्बन्ध आतमा से हुआ होता तब तो वह भी चिरस्थायी हो जाता है उसमें भी सुख-दुःख का अभाव हो जाता। आप अनुभव कीजिये कि क्या आप जो कहते हैं उसे स्वयं सुनते है? आप दूसरों की बात सुन सकते है, अपनी नहीं सुन सकते। आप अपनी ही आँखों से स्वयं को पूरी तरह नहीं देख सकते, किन्तु दूसरों को ठीक प्रकार से देख सकते है। इससे स्पष्ट है कि इन्द्रियों से सम्बन्धित जो कुछ भी हैं उसका सम्बन्ध हमसे नही हैं। हम तो व्यर्थ ही उस सब को अपने ऊपर थोपे हुए हैं।

जो ज्ञान इन्द्रियों से परे है, वह हमारा अपना हो सकता है। उस ज्ञान में संसार नहीं है, इनिद्रयों के विषय नहीं हैं, मन भी नहीं है। और जिसमें यह सब न हो, वह ज्ञान आपका अपना ज्ञान है। उसका सम्बन्ध पूर्ण रूप से आपसे है।

इसीलिये योगियों ने प्रत्याहार की वात कही। प्रत्याहार का मतलब सब कुछ उल्टा कर दो। समझलो कि अब तक जो था, वह हमारे अनुकूल नहीं था। उससे जो उल्टा है, उससे जो विपरीत है वही हमारे लिये हितकर है। अब तक जिसे हितकर समझते रहे वह भ्रान्ति थी, उसमें तथ्य नही था कुछ भी।

इसीलिये तस्वीर को उलट देने का सवाल उठा। उन्होंने कहा प्रत्याहार तो तस्वीर का यह दूसरा पहलू हो गया। एक पहलू उपयुक्त नहीं तो दूसरे से काम लो। जो कुछ अनुपयुक्त है उसे तुरन्त बदल डालो और फिर पकड़ों उसे जो आपके काम आ सके जो आपको सुख-दुःख से ऊपर उठा सके। जो आपको बता सके कि यथार्थ क्या है?

किन्तु क्या बदलना है, किस प्रकार का परिवर्तन करना है ? आप की इन्द्रियों का मुख बाहर की ओर है । वे गतिवान रहती हैं बाहर की ओर । यदि आप उन्हें बाहर की ओर जाने से रोक सके तो अपेक्षित परिवर्तन होने लगेगा । पर, क्या आप ऐसा कर सकेगे ? क्या आप कर सकेगे उल्टी उस तस्वीर को जिसे अब तक सीधी देखते रहे हैं ।

यदि आप ऐसा करना चाहेंगे तो यह वैसा ही होगा, जैसे किसी नदी की धारा को बदल देना । प्रायः सभी नदियाँ उत्तर से चलकर दक्षिण की ओर जाती हैं, और आप चाहे कि उनके प्रवाह उल्टे कर दिये जाँय तो इसके लिये प्रवाह बहना चाहिये उत्तर की ओर। नदी चले दक्षिण से और प्रवाह चले उत्तर की ओर, और शायद आप इसे असम्भव कह दें । जिसे आप असम्भव कहेगे वह है भी असम्भव हीं । बस, सम्भव हुआ है तो नेपाल में, जहां की एक नदी दक्षिण की ओर से उत्तर को ओर वहती है ।

आप चाहें किसी नदी के प्रवाह को बदल न सके, किन्तु मोड़ तो सकते ही है । नहर निकालने के लिये यही किया जाता है कि जिधर मोड़ना है नदी की धारा को उधर क्रमशः नीचे की ओर ले जाना होता है । यदि सुविधाजनक स्थिति हो तो आप खुदाई के द्वारा नदी से निकली हुई दूसरी धारा को उसके समानान्तर भी, पैरलल भी उल्टीं ओर ले जा सकते है ।

यही करना होगा आपको तस्वीर उलटने में भी । इन्द्रियों को मोड़ना होगा । उन्हे घुमाना होगा भीतर की ओर । उनकी कर्मभूमि जो बाहर है, उससे विरक्त करना होगा उन्हे ओर फिर ले जाना होगा आन्तरिक कर्मक्षेत्र में । यदि आप इतना करने में सफल हो जाते हैं तो निश्चय ही तस्वीर बदल जाती है ।

इसके लिये कुछ तोड़-फोड़ नहीं करनी होगी आपको । केवल बाहर की ओर देखने की अपेक्षा भीतर की ओर देखना होगा । कैसे देखेंगे ?

आँखे बन्द कीजिये तो बाहर का दृश्य नदारद। अब आपके अभ्यास पर निर्भर होगा आन्तरिक दर्शन। आपकी भावना पर निर्भर होगा उसे देखना जो अनदेखा है।

कान बाहर की बात सुनते हैं, उन्हे विमुख करने के लिये बन्द कर लेना होगा। देखिये कान बन्द करके, आप अनुभव करेगे आन्तरिक शब्द का, उस अनाहत नाद का जो शाश्वत है, जो संसार में व्याप्त है, जो समस्त ध्वनियों का जनक है।

इसी प्रकार आप अन्य इन्द्रियों को भी अन्तर्मुखी कर सकते हैं। आपके लिये कोई बहुत बड़ी कठिनाई का सामना नहीं करना होगा इस में। बस, बाहर से तब तक के लिये सम्बन्ध विच्छेद जब तक आपकी साधना चलती है। उस समय आपको ढीला छोड़ देना होगा अपना शरीर, जिससे कि बाह्य तनावों से छुटकारा मिल सके। और जो बाह्य तनाव है उनका सम्बन्ध शरीर से ही हैं। वे तनाव आपके नही, शरीर के हैं। आप तो पूर्ण रूप से तनाव-रहित हैं। आप उन तनावों से मुक्त होते हैं तो सुख-दु:ख की अनुभूतियों से भी मुक्त हो जाते हैं। क्योंकि जिन इन्द्रियों को आपने अन्तर्मुखी करने में सफलता प्राप्त कर ली है, उनका सम्बन्ध अब उस चंचल मन से नहीं रहता, वरन् आत्मा से हो जाता है।

अतीत को भूलने से आत्मा की प्राप्ति—

और यह कब होता है, जब मन का अंकुश उठ जाता है इन्द्रयों से। हाथी पर महाबत का अंकुश तभी तक रहता है, जब तक वह अपने को हीन समझता रहें। कभी ऐसा भी हो जाता है कि वह महावत से भी विद्रोह कर देता है और फिर उसे कितना ही वश में क्यों न किया जाय काबू में नहीं आता। वरन् कभी तो ऐसी भी घटनाएं सुनी गई है, जिन में हाथी ने महावत तक को मार डाला।

इन्द्रियाँ भी जब मन से विद्रोह करती हैं और अन्तर्मुखी होना चाहती हैं, तब मन उन्हे रोकने में असमर्थ हो जाता है। मन उन्हे बलपूर्वक रोकना चाहता है तो वे मन को मार डालती हैं। यही सफलता का एक चिह्न है कि इन्द्रियां मन से विद्रोह कर दें अथवा उसे मार दें। मन को मार देती है इन्द्रियाँ, तो उनके अन्तर्मुखी होने के मार्ग में कोई बाधा न रहेगी।

अभिप्राय यह कि आप इन्द्रियों को विषयों से विमुख करना चाहते है तो मन के प्रति सावधान हो जाइये। यदि वह उनके मार्ग में बाधा खड़ी नहो करता तो आपका काम बन गया। मन शून्य हो जाता है तो अभीष्ट में व्यवधान की सम्भावनाएँ दूर हो जाती है।

शून्य मन ही आपको सुख-दुःख से मुक्त कर सकता है। वही आप को इस योग्य बना सकता है कि आप अपने को जान सके। शून्य मन आत्म ज्ञान के मार्ग में सब से अधिक सहायक है। उसी से आप प्रेम का दर्शन कर सकते हैं, उसी से आत्मा को जान सकते हैं। उसी से आनन्द का लाभ उठा सकते हैं।

आप बाहरी प्रभाव से मुक्त होते हैं तो आत्म ज्ञान का सुयोग उपस्थित होता है। जो कुछ भी बाहर है, उसे समझले कि सुख दुःख रूप है, जो कुछ बाहर है वही बाधा है और जो बाधा है, वह सदैव हटाने के योग्य होती है।

आप बाधा को हटाना चाहते हैं तो अतीत के बोझे को उतार फेंकिये। वही बोझा आपके लिये सही मार्ग पर नहीं चलने देता। एक बार एक सन्त ने अपने अनुभव बताते हुए कहा था कि जब मैंने साधना आरम्भ की, तब प्रयत्न करने पर भी मन नहीं रुकता था। मेरा अतीत बहुत शानदार रहा था, इसलिये वह बार-बार उसी की ओर दौड़ता था सोचता कि कितना सुख था? कितनी प्रतिष्ठा थी? घर में सुन्दर स्त्री, कितना कोमल स्वभाव था उसका? हँसती तो फूल झड़ते। सदा आज्ञा

में खड़ी रहती और कहती कि संसार में जो कुछ भी प्राप्त करने के योग्य है, जो कुछ अभिलाषा है, वह सब आप में ही निहित है। उससे पुत्र हुआ, किन्तु उसने प्राण ले लिये अपनी माता के। जीवित वह भी न रहा फूल-सा सुकुमार शिशु। पत्नी और पुत्र दोनों चले गये तो सोचा कि अब क्या करना है घर में रह कर। सब ने समझाने का प्रयत्न किया। मैं स्वयं भी अपने को समझाता रहा कुछ दिनों तक किन्तु मन न समझा। एक दिन चुपचाप घर से निकल पड़ा।

यह अतीत था मेरा जो बार-बार आँखो के सामने आ खड़ा होता। साधना में लगता तो मन घूम जाता। जिस विचार से घर छोड़ा, वह निष्फल प्रतीत होने लगा। किन्तु एक वयोवृद्ध साधु मिल गये। उनसे प्रार्थना की ज्ञानोपदेश की। उन्होंने कृपा पूर्वक सब बातें सुनी और कुछ विचार करने के बाद बोले— 'यही बोझा है तेरे सिर पर जो मार्ग चलने नहीं देता। किन्तु यह ऐसे नहीं हटेगा। इसके लिये कुछ अभ्यास की आवश्यकता होगी। यदि तेरे पास पत्नी का चित्र हो तो साधना में उसे सामने रख और उसे पत्नी-भाव से नही, परमात्म-भाव से देखने का प्रयत्न कर। एक दिन वही पत्नी ईश्वर बन जायगी और उस चित्र से भी विरक्ति हो जायगी किसी दिन। किन्तु स्त्री के चित्र को देखने के साथ उसके अन्य क्रिया-कलापों को भुलाने का भी प्रयत्न करना होगा।'

उनकी बात समझ में आ गई। मैंने पत्नी के चित्र को उपासना के समय रखना आरम्भ किया। उसकी पूजा करता, चन्दन-पुष्प चढ़ाता, किन्तु भूलने का प्रयत्न करता उस अतीत को, जिसमें समूची व्यथा छिपी थी।

साधुजी की बात ठीक निकली। अतीत का बोझ हटने लगा और फिर पत्नी का चित्र भी व्यर्थ लगने लगा। सोचा कि जब अतीत ही गया तो इसी का बोझा क्यों ढोया जाय? एक दिन गंगा के प्रवाह में

उस चित्र को भी बहा आया। रहा-सहा अतीत भी निःशेष हो गया। उसके पश्चात् जो शेष रहा, वह आत्मा था। वह मैं स्वयं था जो आत्मा रूप से जाना जाता हूँ। आत्मा पर चढ़ा हुआ अनात्म रूप आवरण दूर हो चुका। और तब मुझे अनुभव होने लगा आनन्द स्वरूप परमात्मा का अब में अतीत के बोझे से पूर्ण मुक्त हूँ। अब उसकी चर्चा चलती हैं तो भी पकड़ती नही मुझे।

यदि अपने को यथार्थ मार्ग पर ले जाना है तो अतीत को भूलकर आगे बढ़ों। अतीत को भूलोगे तो आत्मा की प्राप्ति होगी। आत्मा की प्राप्ति के लिये किया जाने वाला प्रयत्न अतीत के बोझे से मुक्त कराने वाला सिद्ध होता है। वस्तुतः अतीत को विस्मृति और आत्मा की प्राप्ति दोनों का अभिन्न सम्बन्ध है परस्पर में।

अतीत के साथ शुभ भी बँधा है अशुभ भी। सुख भी जुड़ा है और दुःख भी जुड़ा है उससे। आप उसका त्याग करते हैं तो धर्मवान हो जाते है। अतीत का त्याग ही आत्मवान होने का एक सरल उपाय है। आप उसी उपाय के द्वारा अन्तर में प्रविष्ट हो सकते हैं। उसी के द्वारा आप भीतर गहरे जा सकते हैं।

यदि आप भीतर जाते हैं तो प्रेम की सत्ता का अनुभव करते है। आपका वह प्रेम निश्चल होता हैं। उसका अनुभव हो जाता है तब आप बदले को भी भूल जाते है। आपका हृदय इतना उदार हो जाता है कि दूसरा गाली देता है तो भी आप उससे प्रेम करते हैं।

शुभ और अशुभ – दोनों संस्कारों से मुक्त हो --

इस प्रसंग में एक बात याद आ गई हमें। एक सीधा साधा मनुष्य था। शायद साधु ही था वह, किन्तु कपड़े रंगे हुए नहीं थे उसके। चाल-ढाल, व्यवहार से कुछ सनकी जैसा लगता था। कुछ लोगों की आदत होती है बात का बतंगड़ करने की। उन्हे लगा कि इसे छेड़ने

चाहिये । पूछना चाहिये कि कुछ काम-काज तो करता दिखाई नहीं देता, किन्तु खाता-पीता तो होगा ही । आमदनी का स्रोत क्या है इसका ?

लोग पूछते तो वह उत्तर नहीं देता । लोगों ने उसे परेशान करना आरम्भ किया तो भी उसे परवाह नहीं हुई उनकी । अब लोगों की खीझ बढ़ी तो उसे मारने-पीटने लगे । किन्तु पिट कर भी उसे किसी से शिकायत नहीं । लोग मारते, वह मुसकराता रहता, लोग गाली देते वह सुनता रहता । अन्त में लोगों की दिलचस्पी ही खत्म हो गई उसमें । अब उसे कोई नहीं मारता, कोई भी पास नहीं जाता उसके ।

कुछ के पास पारखी आँखे भी होती है । एक सज्जन उसके साथ सहानुभूति रखते थे । कोई गाली देता तो उसे समझाते, कोई मारता तो उसे रोकने का प्रयत्न करते । एक दिन वे उससे मिले । उसके पास जा कर वोले— 'मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ ।' उसने कहा— 'अवश्य पूछिये, सम्भव हुआ तो उत्तर दूँगा ।'

उन्होंने पूछा—'आप गाली खाते हैं, किन्तु किसी को गाली नहीं देते । किसी से चिढ़ते भी नहीं । लोग आपको मारते हैं तो भी आपके माथे पर शिकन नहीं पड़ती । इसका क्या रहस्य है ?'

उसने कहा—'बस, इतनी-सी बात ? इसका उत्तर तो स्वयं से ही ले सकते थे आप । लोग मुझे गाली देते थे, मारते थे, तब आपको कैसा लगता था उनका व्यवहार ?'

वे वोले—'अशोभनीय ।'

उसने पूछा—'और मेरा ?

उन्होंने कहा—'आपका व्यवहार तो एक दम असाधारण, एक दम रहस्य पूर्ण रहा है ? आप उसका कारण बताइये मुझे ।'

उसने कुछ सोच कर उत्तर दिया—देखिये, यह अपने-अपने अधिकार की बात हैं, अपनी-अपनी समझ से भी सम्बन्ध है उस बात का । उनका अधिकार था गाली देने का, मारने का, इसीलिये वे गाली देते थे,

मारते थे। किन्तु मेरा अधिकार नहीं है गाली देने का या प्रतिरोध करने का। सर्प का स्वभाव है काटने का तो वह काटेगा ही। मनुष्य का स्वभाव सहन शीलता का है तो वह अपने स्वभाव को क्यों छोड़े ? उन्होंने मुझे गाली दी, मारा, किन्तु मैंने न गाली दी, न किसी को मारने की चेष्टा की। मैंने उनकी गाली और मार को याद तक नहीं रखा। उस समूचे प्रभाव को मैंने वहीं त्याग दिया।'

यह रहस्य था उस सनकी जैसे आदमी के जीवन का। वे सज्जन भी समझ गये कि इन्होंने बाहरी प्रभावों को पकड़े नहीं रखा, वहीं छोड़ दिया है, जबकि गाली देने या मारने वाले उस प्रभाव को पकड़े रहते हैं। धीरे-धीरे पकड़े हुए वे प्रभाव एकत्रित होते चले जाते हैं। अन्त में वे ही प्रभाव संस्कारों का रूप ले बैठते हैं। वे ही याद बन जाते हैं अतीत की और अहंकार को जगाने में क्रियाशील हो जाते हैं। अहंकार जागा रहता है तो बाहरी प्रभाव अधिक गहरे रहते हैं। अहंकार सोता है तो बाह्य प्रभाव अंकित नहीं हो पाते।

आवश्यक है कि आप किसी भी प्रभाव को स्थान न दे, किसी भी संस्कार की जड़ न जमने दें। जड़ जमेगी तो वृक्ष का रूप धारण कर लेगी। समझ लीजिये कि शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के संस्कार आपको बन्धन में डालने वाले हैं। आप उस बन्धन से बचने की प्रयत्न कीजिये।

आप कह सकते हैं कि ठीक है, हम नये संस्कारों को नहीं पालते। उन्हें यथा सम्भव नकारने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु उन संस्कारों का क्या होगा जो पहिले से अपना अधिकार जमाये बैठे हैं। स्वभाव में क्रोध पड़ा है तो कैसे छोड़ा जाय ? गाली देने की आदत पड़ गई है तो उसके त्याग का कौन सा उपाय हो सकता है ?

और आपके प्रश्न अपने स्थान पर सही हैं। जो संस्कार जमे हैं पहिले-से उन्हें आप नष्ट तो नहीं कर सकते, किन्तु व्यर्थ अवश्य कर

सकते हैं। पड़े हैं तो पड़े रहने दीजिये उन्हें। आप धीहे-धीरे आदत डालिये क्रोध न करने की, आदत डालिगे किसी को गाली न देने की। कोई क्रोध करता है आप पर, उसे पी जाइये। मान लीजिये कि उसका वह क्रोध आपके लिये नहीं हैं। कोई गाली देता है सुन लीजिये उसे। गाली आपको पकड़ती तो नहीं है। और जो आपको न पकड़े उससे आपको कोई हानि नहीं हो सकती।

कोई मारता है तो पिट लीजिये। किन्तु यह ऊँची बात है, आदत से ही सिद्ध हो सकती है। अहंकार उसे सिद्ध नहीं होने देगा। गाँधीजी के एक गाल पर किसी गोरे ने चाँटा मारा तो उन्होंने अपना दूसरा गाल उसके आगे कर दिया। गोरा झेप गया, शायद उसे अपनी भूल का एहसास हुआ हो कुछ।

जब आप नये संस्कारों के प्रभाव में नहीं आयेंगे और उन्हें सहन करने लगेंगे तो पुराने संस्कार भी दबने लगेंगे। वे अपना उभरना बन्द कर देंगे धीरे-धीरे और तब आपका मन स्वच्छ हो जायगा। आप निर्विकार मन वाले हो जाँयगे। आपके मन में प्रेम उमड़ने लगेगा। हृदय प्रेम-पूर्ण हो जायगा।

प्रेम जागता है तो बिकार भाग जाते हैं। पुराने संस्कार भी विसर्जित हो जाते हैं। प्रेम जागता है तो आनन्द का प्रवाह उमड़ने लगता है। प्रेम जागता है तो नये संस्कारों को भी जमने नहीं देता। प्रेम का जागरण शरीर के लिये नहीं, आत्मा के लिये होता है। जो आत्मा के लिये होता है, वही परमात्मा के लिये होता है। जहाँ प्रेम है, वहीं आनन्द है, वही आत्मा है। आप आत्मा की खोज करते हैं तो पहिले प्रेम की खोज कीजिये। प्रेम की खोज के बिना आत्मा नहीं मिलती, प्रेम की खोज के बिना परमात्मा नहीं मिलता। यदि प्रेम मिलता है तो आनन्द मिलता है और तभी परमात्मा भी मिल जाता है।



शून्य में ही परमात्मा का निवास है

जीवन दु:ख रूप नहीं है–

कुछ लोग कहते हैं कि जीवन में दु:ख ही दु:ख हैं, सुख तो है ही नहीं। मनुष्य जन्म लेता है अपने कर्मों का भोग करने के लिये। जहाँ भोगना है, वह सुख का होना सम्भव नहीं।

और सुनते हैं कि यह विचारधारा पश्चिम में अधिक पनप रही है। वहाँ के स्त्री-पुरुष जीवन में अधिक अशान्ति का अनुभव करते हैं, इसलिये जीवन की हलचलों से इधर-उधर भागना चाहते हैं। यहाँ तक कि उनके मन में आत्महत्या तक के विचार उठते हैं। शायद आत्महत्या करने वालों में ऐसे ही मनुष्य अधिक हों, जिन्होंने जीवन को दु:ख रूप और अनुपयोगी समझ लिया था।

कुछ ने माना हुआ है कि जीवन अन्धकार पूर्ण हैं। उसमें प्रकाश की चमक तो कहीं है ही नहीं। अन्धकार का अर्थ बहुतों ने अज्ञान लगाया है। वे कहते हैं कि हम सब अज्ञानी हैं, हमें ज्ञान की आवश्यकता है, प्रकाश की आवश्यकता है। वेद कहता है 'तमसोमा ज्योतिर्गमय। अर्थात् 'मुझे अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलो।' किन्तु कितने हैं जो अन्धकार से निकल कर प्रकाश की ओर जाने का प्रयत्न करते हैं ? शायद बहुत कम।

कुछ लोग कहते हैं ज्ञानी बनो, अज्ञान को छोड़ कर ज्ञान में प्रविष्ट होओ। किन्तु उनसे पूछो कि ज्ञान क्या है ? तो वे कहेंगे कि ज्ञान वह है जो शास्त्रों में भरा पड़ा है। अब आप खोजते रहिये ज्ञान को शास्त्रों में क्योंकि ज्ञानी बनने का उपदेश देने वाले लोग स्पष्ट नहीं बताते कि

ज्ञान किसे कहते हैं। बताये भी कहाँ से ? शायद वे भी अनिश्चित हैं ज्ञान के विषय में। नहीं जानते कि वैदिक ज्ञान की बात कहें, नहीं जानते कि स्मृतियों के ज्ञान की ओर संकेत करें, नहीं जानते कि दर्शन शास्त्रों को ज्ञान मानें अथवा पुराणों को। उनसे अधिक पूछो तो कहेंगे कि सभी में ज्ञान है, अपनी बुद्धि लगाओ उधर। बुद्धि लगाओगे तो ही ज्ञान मिलेगा।

जब ज्ञान का उपदेश करने वाले ही उसके सम्बन्ध में निश्चित नहीं नहीं है तो आप ही उसका निश्चय कैसे करेंगे ? शायद आप भी दूसरों से वही बात कहें, जसी बात को दुहरा दें। और ऐसा करने पर एक पंक्ति खड़ी हो जायगी ज्ञान के खोजियों की। उस पक्ति में, उस भीड़ में किसी को कुछ हाथ लगे, यह कठिन ही है।

और यह जो भ्रान्ति फैली हुई है ज्ञान के विषय में, यह जो अनिश्चय की स्थिति है, उसी ने मनुष्य की धार्मिकता पर अधिक चोट की है। कोई कहता है कि अमुक कार्य करो तो जीवन में जो दुःख है उससे छूट सकते हो यदि सुख पाना है तो हम बताते हैं बह करो। और भी बहुत सी बातें हैं जो आये दिन बताई जाती हैं भोले भाले उन लोगों को जो अपनी भलाई के विषय में स्वयं नहीं सोच सकते।

शायद वे लोग स्वयं ही न समझते हों कि दुःख क्या है ? सुख क्या है ? बन्धन किसे कहते हैं और मुक्ति किसे ? शायद बे यह भी न जानते हों कि जीवन दुःखरूप तभी होता है, जब हम स्वयं उसे वैसा बना लेते हैं। यदि हम चाहें तो उसे सुखी बना सकते हैं। क्योंकि दुःख और सुख किसी और से नहीं मिलता। मिलता है तो अपने ही मन से उसे दुःख की आँख से देखते हैं तो वह दुःख रूप बन जाता है, सुख की आँख से देखते हैं तो सुख रूप। और यह भी तथ्य है कि दुःख-सुख की मान्यता ही हमें बन्धन में डाले हुए हैं।

बन्धन का सब से बड़ा कारण है उसे दुःख की आँखसे देखना।

जरा छींक आई तो मान लिया कि जुकाम हो गया। जरा सिर में दर्द हुआ तो समझ लिया कि कोई रोग उत्पन्न हो गया है। जरा आँख दुखी कि कराहना आरम्भ हो गई। नहीं समझते कि जुकाम के कुछ बाहरी कारण हो सकते हैं। ऋतु बदलती है तो शरीर की धातुओं को प्रभावित करती है। आप एक दम ठण्डे स्थान से निकल कर धूप में चले जाँय तो हो सकता है कि किसी व्याधि विमेष के चंगुल में फँस जाना पड़े। ठण्ड लगती है तो जुकाम हो जाता है, वर्षा में भीगने से भी जुकाम हो सकता है और कड़ी धूप में चलने से भी। यह सभी बाहरी कारण हैं, कोई आन्तरिक कारण नहीं।

इन्हीं कारणों से सिर-दर्द हो सकता है, खाँसी हो सकती है, बुखार भी आ सकता है, आँखें भी दुख सकती हैं। किन्तु इनके प्रति लापरवाही रहे तो गम्भीर रोग हो सकते हैं। अनेक उपसर्ग हमारी अपनी ही उपेक्षा के कारण व्याधि का रूप धारण कर लेते हैं।

तो, यह कुछ प्रसंग से बाहर की बातें हो गई। किन्तु हुई हैं प्रसंग वश ही। जैसे प्रसंगवश प्रसंग से बाहर की बाते हो जाती हैं, वैसे ही जिन व्यवहारों को हम धर्म मान बैठते हैं, वे अधर्म बन जाते हैं। विलोम रूप से अधर्म समझे गये व्यवहार धर्म रूप हो जाते हैं। बहुत बार धर्म-अधर्म की यह भ्रान्ति मनुष्यों को भ्रम में डाले रहती है।

संसार रंग-रूप पर लट्टू है–

जिन्होंने जीवन को अन्धकार पूर्ण माना है, वे ही अन्धकार में पड़े हुए हैं। दुःखी भी वही हैं जो जीवन को दुःख रूप मानते हैं। बन्धन भी उन्हीं के लिये बनता है यह जीवन, जो अनेक शास्त्रों में ज्ञान की खोज करते और भ्रमित हो जाते है।

संसार को बन्धन रूप मानने वाले लोग इन्हीं कारणों से बन्धन में पड़े हुए हैं। वस्तुतः जो भ्रान्ति है, वही बन्धन में डालने वाली है। हम

जितने अधिक भ्रान्त रहेंगे, उतने ही बन्धन में पड़ेंगे। किन्तु हमने भ्रान्ति को ही आज धर्म का अङ्ग मान लिया है। आज वही सब से बड़ा धार्मिक है जो भ्रान्त है। उसकी भ्रान्ति कहती है कि धर्म का मतलब यही है कि शरीर को सुखी रहना चाहिये। शरीर को दुःख मिलता है तो वह अधर्म हो जाता है।

आप शरीर को देखते हैं, उसके रंग रूप को देखते हैं। आपको उतनी फुरसत नहीं कि आत्मा को देख सके। आज का नवयुवक विवाह करना चाहता है उस लड़की से जो गोरी-चिट्ठी हो, जो देखने में सुन्दर हो। और सुन्दरता का वह माप-दण्ड शरीर तक ही सीमित है। कोई नहीं देखता कि उस लड़की के शरीर में जो आत्मा है वह कैसी है? कोई नहीं जानना चाहता कि उसका स्वभाव है कैसा? शरीर सुन्दर, आत्मा का पता नहीं, स्वभाव का पता नहीं। बाद में क्या होता है? विवाह-विच्छेद की तैयारी। वर्तमान समय में जितने तलाक होते हैं, पहिले कभी होते थे?

एक युग था जब लड़की-लड़के के रंग की ओर ध्यान नहीं होता था किसी को। परस्पर में देखने की छूट भी नहीं थी। पत्नी पसन्द नहीं आई तो क्या मजाल कि पति उससे कुछ कह सके। सामाजिक नियम कड़े थे, दोनों को परस्पर जीवन-निर्वाह करना होता था उसी स्थिति में। और यह शायद कभी नहीं हुआ कि किसी पति ने पत्नी को छोड़ा हो, किसी पत्नी ने पति के व्यवहार पर अप्रसन्न होकर तलाक की बात की हो।

हम नहीं कहते कि विवाह का वह ढंग एक दम सही था। हम नहीं कहते कि पति-पत्नी परस्पर देख कर, एक दूसरे के बिषय में सन्तुष्ट हुए बिना ही विवाह कर लें। किन्तु हमारा कहना यही है कि आप अपने जीवन को सुखी बनाना चाहते हैं तो केवल बाहरी रंग-रूप के ही आकर्षण में न आइये, आत्मा को भी परखने की चेष्टा कीजिये।

एक बार एक कपड़े के दुकानदार ने बड़ी दिलचस्प बात बताई। उसकी दुकान मेलों-नुमायशों में जाती रहती थी और वह ऐसा कपड़ा छाट कर लाता था कि बहुत अधिक चमक-दमक वाला, चटकीला और आकर्षण हो, किन्तु मूल्य कम से कम रहे। हुआ यह कि उसने उसी प्रकार की साड़ियों से सजा रखी थी अपनी दुकान ! आगे से जो भी निकलता उन साड़ियों को ललचायी दृष्टि से अवश्य देखता। विशेष कर महिलाएँ।

एक दिन कोई राजा साहब उधर से निकले। साथ में रानी साहिबा और सेक्रेटरी आदि भी थे। रानी साहिबा की दृष्टि उस दुकान पर पड़ी और वे वहीं ठहर गईं। उन्होंने कुछ साड़ियाँ पसन्द की और राजा साहब से उन्हें खरीद लेने को कहा। राजा साहब को भी साड़ियाँ अच्छी लगीं। उन्होंने पूछा—'कितने-कितने की हैं यह साड़ियाँ ?'

दुकानदार ने मूल्य बताया किसी का पाँच सौ, किसी का आठ सौ, किसी का बारह सौ। सभी साड़ियों का मूल्य जुड़ कर दस हजार से अधिक हो गया। राजा सासब को दाम कुछ अधिक प्रतीत हुए किन्तु बोले नही। तभी सेक्रेटरी ने धीरे से कहा—'हुजूर ! यह व्यापारी तो बहुत ऊँचे दाम बताता है। लगता है—कोई बहुत बड़ा लुटेरा हो।'

दुकानदार समझ गया कि इसने भाँजी मार दी। किन्तु उसका काम भी ऐसे ही लोगों से पड़ता था। उसने राजा साहब से कहा—'हुजूर ! यह साड़ियाँ रानी-महारानियों के लिये ही लाता हूँ में। किसी और दुकान पर ऐसी मिल नहीं सकती। अगर अमुक महाराज आ जाँय इधर तो इन्हीं की कीमत पच्चीस हजार से कम नहीं मिलेगी।

फिर, हम भी यहाँ आते है आप राजा लोगों की आशा पर ही। सदा यही मनाते हैं कि आप लोग इधर पधारें और हमारे माल की बिक्री हो। क्योकि हमारे पास जो भी सौदा है, सब बड़े लोगों के लिये ही है, गरीबों के लिये नहीं।'

राजा साहब उसकी खुशामद भरी बातों में आ गये और चट से उतनी कीमत का चैक बना कर दुकानदार को दे दिया। रानी साहिबा खुश थीं, उन्होंने जो तड़क-भड़क देखी थी साड़ियों की, उसने उन्हें मोहित कर लिया था। दुकानदार ने बताया कि 'उसका मूल्य लगभग एक हजार रुपया होगा जिसका दस हजार मिल गया। ऐसे लोग रंग-रूप देखकर न्यौछावर हो जाते हैं। कोई कपड़ा नहीं देखता, उसका स्टफ नहीं देखता।'

जो लोग रंग-रूप पर लट्टू हो रहे हैं, वे अधिक दुःख पा रहे हैं। आप रंग-रूप से बँधे हैं, स्टफ नहीं देखते तो उसी प्रकार लूटे जाते रहेंगे। आप सोचते रहेंगे कि हम राजा हैं, धनिक हैं, साहूकार हैं, प्रतिष्ठित नेता हैं, और प्रतिष्ठा रखने के लिये आवश्यक है कि हम कुछ मामलों में भोले बन जाँय, उदार बन जाँय, परोपकार के लिये नहीं, केवल प्रतिष्ठा के लिये, अपने अहंकार की रक्षा के लिये तो लूटने वाले सोचेंगे कि फिर कभी ऐसा सुयोग नहीं मिलेगा।

यह अहंकार है—

किन्तु एक मजे की बात और है—आप धनवान हैं, बड़ी चमक-दमक से रहते हैं। कार-कोठी, कल-कारखाने, पद-प्रतिष्ठा सभी कुछ है आपके पास। किन्तु उस सब का रौब उसी पर पड़ेगा, जो आपसे कम धन वाला, कम चमक-दमक वाला, कम पद-प्रतिष्ठा वाला होगा। जिसके पास आपसे अधिक धन, चमक-दमक और पद-प्रतिष्ठा है, वह आपके रौब में नहीं आ सकता। वह तो आपको अपने से तुच्छ समझेगा और प्रकट या अप्रकट आपको अनादर पूर्वक देखने का प्रयत्न करेगा।

एक छोटी-सी बात है, किन्तु हैं सच्ची। एक बड़े सेठ की इच्छा थी कि अपनी कन्या का सम्बन्ध किसी बड़े तीर्थ स्थान में रहने वाले परिवार में करें। क्योंकि कन्या बहुत ही धार्मिक प्रवृत्ति की थीं। उन्होंने

वर की खोज में अनेक स्थानों के सजातीय सेठों के विषय में पूछ ताँछ की। एक स्थान पर मिले भी एक बहुत बड़े आदमी। उनका बड़ा मान-सम्मान, बड़ी पद-प्रतिष्ठा, बड़े दौड़-दौड़ा थे औ, और धन तो जैसे फट ही पड़ा हो कहीं से। लोगों ने सलाह दी उस लड़की वाले सेठ को कि उनके यहाँ सम्बन्ध कर दीजिये अपनी लड़की का। सेठ ने कहा कि उनके विषय में शीघ्र ही पता करूँगा।

पता लगाने में कोई कठिनाई नहीं हुई। सलाह देने वाले ने ठीक सलाह दी थी। सभी बातें जँच रही थी उस सेठ को, किन्तु कोई एक बात ऐसी थी, जिसमें वह समझता था कि घर अनुकूल नहीं है। जब कुछ दिन बाद सलाह देने वाले ने उससे उस विषय में पूछा तो उसने उत्तर दिया—'अरे भई, जो घर आपने बताया था, वह तो गरीब घर है। हमारी जोड़ का नहीं, पासंग भी नहीं है हमारा।'

सलाह देने वाले ने आश्चर्य से उसका मुख ताका। किन्तु बात सच्ची थी। उसने जिस सेठ की बात कही थी, वह इस सेठ के मुकाबले धन की दृष्टि से बहुत कमजोर था। चाहे मध्यम श्रेणी के लोगों में उसकी कितनी ही अधिक प्रतिष्ठा क्यों न हो।

फिर उस सेठ को जब अपने समान धन वाला कोई घर नहीं मिला तो उसने वर का ध्यान किये बिना ही लड़की का विवाह बहुत बड़े घराने में तो किया, किन्तु वह वहाँ सुखी नहीं रह सकी। सेठ के अहंकार में घर की ओर ही ध्यान दिया, वर की ओर नहीं। इस अहंकार के बन्धन में ही अधिकांश व्यक्ति अपने उत्थान की बात नहीं सोच सकते।

यदि जीवन को दुःख पूर्ण बनाया है तो अहंकार ने। यदि जीवन में प्रकाश की झलक नहीं दिखाई देती तो उसका कारण भी अहंकार ही है। अहंकार जागा रहता है तो वह पाप को भी धर्म बना कर खड़ा कर देता है। उसके आगे हित-अहित का तो कोई प्रश्न है ही नहीं।

और अहंकार किसी वर्ग विशेष में ही हो, ऐसी बात नहीं है। उसे

बड़ें-बड़े विद्वानों ने पाल रखा है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों, सेठ-साहूकारों, जनसेवकों और नेताओं ने भी पाल रखा है। गरीब लोग भी अहंकार से मुक्त नहीं है। किसी को अपने गुण का अहंकार है, किसी को रूप का तो किसीं को अपने धन का ही अहंकार बाँधे हुए है। पदाधिकारी है तो समझता है कि पद तभी रहेगा जब अहंकार होगा। प्रशासक है तो उसकी भी यही मान्यता है कि प्रशासन चलाने के लिये अहंकार चाहिये।

जो लोग परमात्मा की खोज में चलते हैं, वे भी अहंकार का सहारा लेते हैं। उनकी दृष्टि में परमात्मा भी अहंकार वाले की दृष्टि में ही आता है। इसलिये वे अपने अहंकार को और भीं अधिक मज्बूत बना लेते हैं। वह जितना मजबूत होता है उतना ही आकार बढ़ाता जाता है और उतना ही खींचता जाता है अपनी ओर।

गरीब का अहंकार छोटा होता है। साधक भी, जिसने साधना आरम्भ की हो, छोटे अहंकार को ही गले लगाये रहता है। जो बड़े होते हैं उनका अहंकार भी बड़ा होता हैं। वह इतना स्थान घेर लेता है कि वहाँ और कुछ भी न समा सके।

और उस स्थिति में आप कहें उस बड़े अहंकारी से कि भई, तुम्हारे उस स्थान में हम भी कुछ रखना चाहते हैं जहाँ अहंकार को भर रखा है तुमने, तो उसका उत्तर होगा—'नहीं, वहाँ स्थान नहीं है। एक सुई भी नहीं रखी जा सकती वहाँ।' उसे भय है कि यदि वहाँ कुछ ऐसा रख दिया गया जो अहंकार से मेल न खाये, तो बहुत गड़बड़ हो जायगा। और उसका भय उसकी दृष्टि से मिथ्या भी नहीं है कुछ।

आप कोई उपदेश देना चाहे उसे तो वह समझेगा कि मुझे उल्लू बनाया जा रहा है। एक बार इन्द्र ने दधींचि को मूर्ख बना कर ही उनकी अस्थियाँ ले ली थीं। बेचारे दधीचि, उसके चक्कर में ऐसे पड़े कि अपने प्राण ही गवाँ बैठे।

उसे लगेगा कि कहीं ऐसा न हो कि अहंकार जाये तो प्राण ही चले

जाँय । अहंकार जाता है तो 'मैं' तो मर ही जाता है । और 'मैं' मरा तो आपके भीतर जो बैठा हैं, उसका ज्ञान होने लगता है आपको । उस समय आप पाते हैं कि जो भीतर है, वही कुछ हो सकता है । यह स्थिति आत्म बोध की ओर बढ़ने की है ।

यही वह स्थिति है जब मन में शून्यता आती हैं ।अहंकार जाता है तो मन शून्य हो जाता है । उसमें कोई ऐसी बिकृति शेष नहीं रहती जो मन की स्थिरता में बाधा डालती हो । मन विकृतियों से मुक्त हो जाता है तो चंचल नहीं रहता । जब उसकी चंचलता मिटती है, तब उसकी दौड़ रुक जाती है । वह विषयों से विमुख हो जाता है और इन्द्रियों को भी अन्तर्मुखी कर देता है ।

वही स्थिति परमात्मा की प्राप्ति स्थिति है । वही स्थिति हमको परमात्मा के मार्ग की ओर अग्रसर करती है । उसी स्थिति हम बढ़ते चलते सरलता पूर्वक उस ओर जहाँ परमात्मा का द्वार है । उसीं स्थिति से बढ़ते हुए हम उस द्वार पर पहुँच सकते हैं, जिसके भीतर परमात्मा का निवास है । उसमें प्रविष्ट तभी हो सकेंगे जब मन शून्य हो जाता है । क्योंकि उसी शून्य में निवास है परमात्मा का ।



संस्कारों के संशोधन और परिमार्जन से शून्यता की ओर

संस्कारों की प्रबलता–

हम जीवन जीते हैं, किन्तु अपने ही जीवन को समझने में भूल कर बैठते हैं । क्योंकि जीवन जो कुछ भी सामने होता है वह कभी अनुभूत

होता है तो कभी अनुभव में न आया हुआ। जब अनुभव में न आया हुआ प्रत्यक्ष होता है तब हम असमंजस में पड़ जाते हैं और भूल जाते हैं कि सभी कुछ सम्भव है। जो प्रत्यक्ष है वह भी, और अप्रत्यक्ष है वह भी।

किन्तु प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष के साथ वे अनुभूतियाँ अवश्य जुड़ी होती हैं, जिन्हें संस्कार नाम दिया गया है। यद्यपि संस्कार का निर्माण अतीत से ही होता है, तो भी वर्तमान और भविष्य भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता।

विगत जन्मों में किये गये कर्म ही संस्कार का रूप धारण करते हैं। विशेषता यह कि आपने जो किया है उसका भोग संस्कार रूप से मिलता है आपको। पारिवारिक सम्बन्ध, पत्नी, पुत्र, भाई, माता, पिता, मित्र और शत्रु भी संस्कार वश ही मिलते हैं। जिससे जितने समय का संस्कार हो उतने ही समय तक सम्बन्ध रहता है। समय से बाहर बिलगाव अनिवार्य है, उसे कोई भी शक्ति रोकने में समर्थ नहीं होती।

सुख, दु:ख, रोग, शोक, भय, प्रतिष्ठा, ख्याति आदि की प्राप्ति में भी संस्कार का बहुत बड़ा हाथ रहता है। क्योंकि उनकी प्राप्ति भी तभी होती है जब संस्कार हों उस प्रकार के। कोई चाहे कि बिना संस्कार के ही मुझे कोई राजपद मिल जाय तो नहीं मिल पाता उसे। बहुत-से लोग चुनावो में बहुत बार खड़े होते देखे गये हैं, किन्तु वे कभी भी सफल नहीं हुए। इससे यह मानना होगा कि उनमें पद प्राप्ति के लिये जो संस्कार उभरते रहे, वे चुनाव में खड़े होने तक ही सीमित थे, उनमें सफलता की शक्ति नहीं थी।

बहुत-से वक्ता विद्वान् नहीं होते, बहुत-से विद्वान् भी वक्ता नहीं हो पाते। यह भी संस्कार की ही प्रकिया है। आप जब जो कुछ भी करते हैं वह सभी संस्कार वश ही करते हैं। यहाँ तक कि पाप-पुण्य का उदय

भी संस्कार वश ही हो पाता है। आप कुछ करने को तैयार हों और उसमें कोई बाधा उपस्थित हो जाय तो वह तैयारी और वह बाधा दोनों में ही कारण संस्कार ही है।

शायद आप संस्कारों की महिमा सुन कर घबरा जाँय। आप सोचने लगें कि जब संस्कारों की अनिवार्यता है ही जीवन में तो उनसे पीछा छूटने की बात ही व्यर्थ है। किन्तु नहीं आप ऐसा न सोचें। वे संस्कार भी बदले जा सकते हैं। जो अनिवार्य माने जाते हैं उनमें भी परिवर्तन हो सकता है।

लोहा एक मजबूत धातु है, आप जानते हैं कि उसे काटना कुछ कठिन नहीं है। किन्तु लोहे को काटने की भी एक विधि है। आप गर्म करते हैं उसे और ठण्डे लोहे से प्रहार करते हैं उस पर तो वह कट जाता है। इसीलिये यह एक लोकोक्ति बन गई। कि गर्म लोहे को ठण्डा लोहा काटता है।' और यह लोकोक्ति व्याहारिक हैं।

संसार में असंभव कुछ भी नहीं है। संस्कार को भी काटा जा सकता है कर्म से। अशुभ संस्कार हैं तो उन्हें शुभ कर्मों के द्वारा निवारण कर सकते हैं आप। शुभ कर्म करेंगे तो अशुभ अवश्य ही प्रभावित होगा उससे। पानी गर्म हो गया हो अधिक, तो उसे ठण्डा पानी मिला कर तापमान घटाया जा सकता है। यदि बर्फ की सिल्ली पर रख दें गर्म पानीं के बर्तन को तो वह बिल्कुल ही ठण्ड़ा हो जायगा।

जैसे कर्म वैसा फल। पाप कर्म भारी हों तो उन्हें काटने के लिये शुभ कर्म भी भारी ही होने चाहिये। सभी जानते हैं कि किसी बड़ी शक्ति को दबाने के लिये उससे भी बड़ी शक्ति चाहिये। कोई छोटी शक्ति किसी बड़ी शक्ति को दबाने में ही असफल नहीं होती, स्वयं ही मिट भी सकती है।

पाप बड़ा है तो उसके लिये अधिक पुण्यों की अपेक्षा होगी। आप छोटे-छोटे शुभ कर्म करते हुए भी एक बड़ी राशि खड़ी कर सकते हैं

उनकी। लोक जीवन में भी किसी शक्तिशाली व्यक्ति का मुकाबला सामूहिक रूप से सहज ही किया जा सकता है। 'संघे शक्ति कलौयुगे' वाली उक्ति के द्वारा इस रहस्य का समझना कुछ कठिन नहीं होगा।

कर्मों के पहाड़ को लाँघना–

योगी जो योगाभ्यास करते हैं, उसमें उनका उद्देश्य क्या है? भक्तजन भक्ति करते है, वह भी किस लिये? जप-तप, पूजा-पाठ करने वाले क्यों करते हैं वे कार्य? यज्ञ करने वाले किस लिये फूँकते हैं इतना सारा आज्य और हव्य?

सभी का एक ही उद्देश्य होता है—संस्कारों की दीवाल को फाँदना अथवा कर्मों के पहाड़ को लाँघ जाना। सभी चाहते हैं कि हमें सद्गति प्राप्त हो। सद्गति का अर्थ—वह गति जो पुण्यात्माओं को प्राप्त हो सकती हो।

किन्तु पुण्यात्माओं की गति के लिये आवश्यकता होती है अपने को सँभालने की। आपको उस गति की इच्छा है तो पहिले अपनी ओर देखिये। अपने तन-मन को शुद्ध बनाइये। अपनी आदतों में परिवर्तन लाइये।

अष्ठांग योग के प्रवर्तकों ने योगाभ्यास के आरम्भ से ही आदत बदलने की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया। उन्होंने निर्देश दिया कि यम-नियम का पालन करो। यम-नियम? अर्थात् सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, अचौर्य आदि। यह यम-नियम दस-दस माने जाते हैं। कुछ कम अधिक भी बताते हैं। किन्तु इन सभी का सम्बन्ध सदाचरण से है। आप यम-नियमों के पालन में तत्पर होते हैं तो इसका अर्थ होगा कि अपनी आदत बदलते हैं। अपने स्वभाव में पवित्रता लाते हैं।

और यम-नियमों का सम्बन्ध स्वभाव से ही नहीं है, कर्म से भी है। क्योंकि उनका पालन केवल मन से ही नहीं होगा, शरीर को भी सहा-

यता देनी होगी उसमें। शारीरिक स्वच्छता की ओर भी ध्यान देना होगा उस समय।

किन्तु आज का मनुष्य परेशान है समय के अभाव से। उसके पास समय नहीं है, यह तो एक ही तथ्य है, किन्तु दूसरा तथ्य अधिक भयंकर है। दूसरा तथ्य यह है कि आज का मनुष्य आलसी बहुत हो गया है। वह शरीर से काम नहीं करना चांहता और मस्तिष्क भी नहीं लगाना चाहता। आप उसे कहें कि अमुक कार्य करो तो वह कहेगा कि करूँ कैसे, फुर्सत ही नहीं मिलती।'

फुर्सत न होने का यह रोना कामों में व्यस्त रहने वालों में ही नहीं, उनमें भी है जो निकम्मे हैं। जो काम तो अधिक नहीं करते; किन्तु दिखाते हैं कि न जानें कितने व्यस्त हैं।

और उनके लिये भी कुछ सुविधाएँ काल्पित की है अनुभवी पुरुषों ने। षट्कर्म करते हैं तब तां बहुत अच्छी बात है. अन्यथा शरीर शोधन के लिये आप अन्य विकल्पों से काम ले सकते हैं। जैसे कुछ धौति कर्मो के स्थान पर स्नान आदि। आप शरीर को शुद्ध रखने का प्रयत्न कीजिये, उसके लिगे विधि कोई भी अपना सकते हैं।

शरीर शुद्ध रहता है तो मन भी शुद्ध रहेगा। क्योंकि शरीर का मन पर और मन का शरीर पर प्रभाव पड़ता ही हैं। यम-नियमों से प्रायः मन का शोधन होता है तो षट्कर्मो से अथवा स्नानादि से शरीर का। स्वास्थ्य बनाये रखने के लिये इन दोनों का शोधन आवश्यक है।

योग-साधना में ही नहीं, अन्य प्रकार की साधनाओं में भी शरीर शोधन का महत्व स्वीकार किया जाता है। व्रत-उपवास, सत्य बोलना, परोपकार में तथा भगवान् में मन लगाना आदि भी आरम्भ में तो आदत बदलने के ही साधन रहते हैं। आप धीरे-धीरे जितनी ही आदत बढ़ाते हैं उस प्रकार की, उतना ही आत्म-विकास की ओर बढ़ सकते हैं।

योगियों ने कहा है कि आसन का अभ्यास करो, प्राणायम का

अभ्यास करो । आप करते हैं इनका अभ्यास तो अवश्य ही अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते हैं । आसन के अभ्यास का अर्थ किसी एक स्थिति में बैठना है और वह स्थिति होनी चाहिये आपकी अपनी सुविधा के अनुसार । जिस स्थिति में बैठे रह सकें आप पर्याप्त समय तक, किसी प्रकार की ऊब या थकान का अनुभव न हो तो हम उसे श्रेष्ठ आसन कह सकते हैं ।

साधना के लिये बैठने का अभ्यास आवश्यक है । यदि आप बैठने में असुविधा का अनुभव करते हैं तो आपका मन साधना में नहीं लगेगा । आपका ध्यान जमेगा ही नहीं और जब ध्यान ही न जमा तो साधना कैसे होगी ?

क्रान्ति के कगार पर--

और प्राणायाम का अभिप्राय कुछ ऐसा है जैसे आप अपनी स्फूर्ति बढ़ा रहे हों । आप श्वास-प्रश्वास का व्यायाम कर रहे हो । वैज्ञानिक मान्यता है कि वायु मंडल में अनेक जींवनीय तत्व और आक्सीजन विद्यमान है । श्वास के द्वारा हम उन सभी तत्वों को अपने शरीर में भरते है और निःश्वास के द्वारा शरीर के भीतर उत्पन्न हुई विषैली गैसों को बाहर निकालते है । हम जितनी ही अधिक शुद्ध वायु बाहर से ग्रहण करते हैं, उतने ही अधिक स्वस्थ रह सकते है ।

योगियों ने प्राणायाम के द्वारा अपने शरीर में अधिक जीवनीय तत्वों को प्राप्त करने का प्रयत्न किया । क्योंकि वे उसके द्वारा अपने श्वास-निःश्वास पर नियंत्रण रखने में सफल रहते है । उनका मत हैं कि श्वास-निःश्वास का यह व्यायाम मनुष्य में जींवनीय शक्ति या प्राण-ऊर्जा की वृद्धि करने वाला है । एक योगी ने वार्तालाप के मध्य स्पष्ट बताया कि जितना शक्ति संवर्धन शारीरिक व्यायामों से नहीं हो पाता, प्राणायाम के द्वारा उससे कई गुना हो सकता है ।

और उन्होंने बताया कि श्वास दीर्घ होने चाहिये । अभ्यास कीजिये कि श्वास जल्दी जल्दी न लिया जाय । जितनी जल्दी और छोटे श्वास लेगे, उतनी ही आयु कम होगी । क्योंकि जल्दी श्वास लेने से उनकी दैनिक सख्या बढ़ जायगी । वर्ष भर में जितने श्वास लिये जाने चाहिये, उतने श्वास कुछ महीनों में ही पूरे हो जाँयगे । इससे स्पष्ट है कि आयु घटेगी हीं । जो लोग इस रहस्य को जान लेते है, वे देर में श्वास लेते है कुम्भक आदि का अभ्यास करते हैं, जिससे उनकी आयु बहुत बढ़ जाती है ।

यहां तक अभ्यास कर लेने के पश्चात् ही आप आगे बढ़ सकते है । प्राणायाम में सफल होने पर आप अपने मन को स्थिर रखने में समर्थ हो जाते हैं । आप अपनी इन्द्रियों को वश में करने का अभ्यास सहज रूप से कर सकते हैं । आपकी चित्तवृत्ति में परिवर्तन हो सकता हैं इस प्रकार से । आप उसे अपने उपास्य के आकार की बना सकते है । जब आपकी चित्त वृत्ति इच्छा करने पर उपास्य के स्वरूप वाली हो जाय तब समझिये कि आप अपने चित्त पर अधिकार करने में सफल हो गये है । योगियों ने अभ्यास कीं इसी सफलता को प्रत्याहार नाम दिया है । जब आप इस स्तर पर पहुँच जाते हैं तब निश्चय ही क्रान्ति के कगार पर पहुँच जाते है ।

योगियों ने जिसे प्रत्याहार कहा हैं, उसका अभ्यास अपने को पूर्ण रूप से बदलने का; ओवरहाल करने का अभ्यास है । क्रान्ति का अर्थ बदलना ही हैं । जो स्थिति बल पूर्वक बदली जा सके, वही क्रान्ति है । किन्तु प्रत्याहार तक आप क्रान्ति की नदी में तैरने योग्य नहीं हो पाते । क्योंकि वह नदी तो बहुत गहरी है । उसका प्रवाह नीचे की ओर है, किन्तु जब आप प्रविष्ट होगे उसमें एक क्रान्ति के साथ, एक बदलाव के साथ, तो वह नदी अपना प्रवाह बदल देगी । वह नीचे की अपेक्षा ऊपर की ओर बहने लगेगी । और जो धार नीचे से ऊपर की ओर बहने लगी

वही क्रान्ति हो गई।

और आप प्रत्याहार के बाद क्रान्ति की नदी में उतरते है। उस समय आपका चित्त इतना शक्ति शाली हो जाता है कि जिस पर जा टिके उसी को आत्मसात कर ले। योगियों ने आत्म सात कर लेने वाली उसी विधि को 'धारणा' नाम दिया है। आप धारणा में जाते है तो क्रान्ति की नदी में एक पाँव टिकाते है। उस समय आप बढ़ना चाहते है आगे तो सँभल कर ही पांव रखना होगा। क्योंकि नदी का बहाव नीचे की ओर है और आपको चढ़ना है ऊपर की ओर। कही ऐसा न हो कि नीचे की ओर ही बहने लगे आप। कही ऐसा न हो कि नदी का बहाव नीचे की ओर बहा ले जाय आपको। यदि ऐसा हुआ तो आप वहीं रह जाँयगे जहाँ पड़े थे। नदी का बहाव और पानी के थपेड़े आपको धकेल सकते है नीचे की ओर।

आप कगार से उतर कर क्रान्ति की नदी में प्रवेश करते है और पाँव टिका लेते है उसमें, तो उसका प्रवाह बदलने में भी समर्थ हो सकते है। फिर तो आपको वह सिद्धि प्राप्त हो सकता है कि चाहे जिस पदार्थ को अपने अनुकूल बदल डाले, चाहें जिस बस्तु को अपने वश में कर ले। यदि ऐसा कर सके आप, तो पायेंगे कि जीवन में बहुत बड़ी क्रान्ति हो गई है।

योग की सिद्धियाँ बहुत प्रसिद्ध रही है। शायद अणिमादि आठ सिद्धियों का नाम आपने भी सुना हो। शायद आपको यह भी मालुम हो कि इन्हीं सिद्धियों के बल पर योगीजन आकाश में उड़ सकते थे, पानी पर चल सकते थे, आग में होकर निकल सकते थे। एक महात्मा के विषय में सुना जाता है कि उन्हें मालुम हो जाय कि कोई डूब रहा है तो वे मुख ढँक कर बिस्तर पर लेट जाते थे। शिष्यों को आदेश होता था कि वे उन्हें जगाये नहीं। समय पर वे स्वयं ही जग उठेंगे। उधर डूबते हुए मनुष्य को प्रतीत होता कि कोई हाथ पकड़ कर खीचे

ले जा रहा है किनारे की ओर। उसे जल में निहित शून्य के भीतर उन महात्मा की धुँधली तस्वीर भी दिखाई देती । जब किनारे पर लाकर उसे हाथ में लाया जाता तब वह यही बताता कि महात्माजी की कृपा से ही डूबने से बचा हूँ मैं।

एक बार वृन्दावन में निवास करने वाले एक सन्त ने बताया कि वे बदरिकाश्रम के निकट की किसी गिरिकन्दरा में रहने वाले एक सिद्ध महात्मा की सेवा में गये। सन्तजी को लगा कि महात्माजी परम ज्ञानी, अतीन्द्रियता से सम्पन्न और पहुँचे हुए है। उनसे प्रार्थना की सन्तजी ने कि 'महाराज ! मुझे अपना शिष्य बना ले।' किन्तु महात्माजी ने टाल दिया उन्हें।

सन्तजी भी निराश होने वाले नहीं थे, इसलिये पीछे लगे रहे उनके एक दिन बहुत आग्रह करने पर उन्होंने कहा कि 'शिष्य का कर्त्तव्य गुरु की आज्ञा का पूर्ण रूप से पालन करना हैं। क्या तू मन, वचन, कर्म से कर सकेगा वैसा ?'

सन्तजी ने स्वीकारोक्ति कीं तो महात्मा कुछ कठोर हो गये। बोले— 'तो मैं तुम्हे शिष्य रूप में स्वीकार करता हूँ और आदेश देता हूँ कि अभी उस सरिता में जा कूदो।'

'बड़ी विकट आज्ञा थी। शरीर का ही नही, प्राण का भी समर्पण। एक ओर गुरु की आज्ञा और दूसरी ओर प्राणो का उत्सर्ग सन्तजी ने अन्त में आज्ञा पालन का ही निश्चय किया और तुरन्त ही उस उफनती उछलती तथा पत्थरों से टकरा कर शोर करती हुई नदी में जा कूदे यह मान कर कि प्राणान्त तो होना ही है।

वे नदी में कूदे तो पानी में गहरे जा पहुँचे एक बार और फिर ऊपर उठे तो लगा कि कोई हाथ है जो मजबूती से पकड़े हुए है सन्तजी को। उसी हाथ ने उन्हें किनारे लगा दिया। वहां देखते है कि महात्मा जी खड़े हुए मुसकरा रहे हैं। सन्तजी के कानों में उनकी अमृतमयी

वाणी पड़ीं— 'तेरी परीक्षा पूरी हो गई है वत्स ! मैं समझ गया कि तू शिष्य होने का सर्वथा अधिकारी है।'

उनके संकेत पर मैं साथ चल दिया। ऊपर उसी गिरि-कन्दरा वाली कुटी में पहुंच कर ठहरा। उस अवधि में मुझे उनकी सेवा करने और उनसे ज्ञान प्राप्त करने का अवसर मिला। किन्तु गुरुजी सेवा तो बहुत ही कम लेते थे। उनका कोई कार्य ही न था, जो करना पड़ता। वे या तो ध्यान मग्न रहते अथवा मुझे ज्ञानोपदेश करते रहते। भोजन के नाम पर कई दिनों में एक कन्दमूल का सेवन करते थे। ऐसे गुरु की, जो सभीं अपेक्षाओं से रहित हो, कोई सेवा भी क्या कर सकता है ?

तो, यह योग— सिद्धि का ही प्रभाव था। किन्तु आवश्यक नहीं कि आपको कोई सिद्धि प्राप्त हो जाय तो आप उसी में उलझें रहे। यदि आप सिद्धि में उलझ गये तो समझ लीजिये कि क्रान्ति की नदी के भँवर में पड़ गये हैं। अनेक क्रान्तिकारियों ने अपने प्राणों की बाजी लगादी, किन्तु उनमें कुछ ऐसे भी हुए जो प्रलोभनों में आ गये। और अन्त में गिनतीं हुई उनकी गद्दारों में, विश्वास घातियों में, देश द्रोहियों में। वे क्रान्ति के सूत्रधार बनते-बनते क्रान्तिकारियों को पकड़वाने वाले मुखबिर बन गये।

सिद्धियों का भँवर–

आप सिद्धियों में उलझते हैं तो नदी के भँवर में पड़ सकते हैं। सम्भव है कि उसके प्रवाह में नींचे की ओर बहने लगे। वे सिद्धियाँ ही आपको योग-भ्रष्ट करके विषयों के जाल में पुनः फँसा दे। ऐसा होने पर वही स्थिति हो सकती हैं जो पाँव फिसल कर गिरनें वाले की होती है। आप बनने चलते हैं योंगी, किन्तु सिद्धियों के आकर्षण में, उनके प्रभाव में भोगी बन जाते हैं।

यदि आप सिद्धियों की उपेक्षा करके आगे बढ़ते है तो मार्ग साफ

मिलता हैं। जिस मार्ग पर सिद्धियों के कंकड़-काँटे बिछे थे उसके साफ होने पर आप निर्भय होकर बढ़ते रह सकते हैं। उस स्थिति में कोई विघ्न आपको विमुख नहीं कर सकेगा। आपका मन किसी एक विषय में लगने लगेगा। आपकी धारणा पुष्ट होगी तो बीच के टापू को पार कर लेगी।

पुष्ट हुई धारणा ध्यान की शान्त, निःशब्द एवं शून्यवत् प्रवाह वाली नदी में प्रविष्ट करा सकती है । उस समय आपके मन में कोई विचार नहीं रहना चाहिये। क्योंकि जब तक विचारों का प्रवाह रहेगा, ध्यान की सरिता निःशब्द और शान्त नहीं हो सकेगी। यदि ऐसी स्थिति रही तो आप पुनः उस भीड़-भाड़ वाले टापू पर लौट आयेगे जहाँ खौमचे वाले हैं और चाट-पकौड़ी बेच रहे हैं। आपकी जिह्वा आकर्षित होगी उसका स्वाद लेने के लिये। आंखे आकर्षित होंगी उस भीड़ में कुछ देख कर और सम्भव है कि कुछ खोजने भी लगे। कान सुनना चाहेगे मधुर शब्द और त्वचा चाहेगी कोमल स्पर्श । हृदयाकाश भी अवकाश के आर्कषण में खोने लगेगा और भूल जायगा उसे जो वहाँ, उस शून्य में विराजमान है।

ध्यान आपको बहुत ऊँचा ले जा सकता हैं। ध्यान आपको पहुँचा सकता हैं उस द्वार पर जिसमें परमात्मा विद्यमान हैं। यदि आपका ध्यान दृढ़ नहीं होता तो कुछ भी देखने में सफल नहीं होंगे आप। क्यों कि वहाँ देखने के लिये वे आँखे चाहिये जो आपके पास नहीं है। ये आँखे तो आपको शून्य का ही दर्शन करा सकती है, शून्य में विद्यमान परमात्मा का नहीं।

इन आँखों को आप खोलते है तो रंग-बिरंगे दृश्य देखते है संसार के किन्तु शायद आप न जानते हो कि वे दृश्य सदा दिखाई देने वाले नहीं है। उनमें क्षण-क्षण पर परिवर्तन होता रहता है। जब दुनिया बदलती रहेगी। निरन्तर सिनेमा की रील के समान तो दृश्यों में परिवर्तन क्यों

न होगा ?

और एक दिन वही दृश्यमान जगत् जब विलीन हो जाता है प्रलय काल में तो शून्य रूप हो जाता है। उसका एक कण भी दिखाई नहीं देता उस समय और लगता है सर्वत्र शून्य का ही अस्तित्व है। इससे स्पष्ट है कि दुनिया का दृश्य मात्र मिथ्या है, क्योंकि अन्त में तो वह शून्य रूप हो ही जाता है। इससे यह भी सिद्ध है कि हमारी खुली आंखे जो कुछ भी देखती है, वह सब शून्य रूप ही है। रूप-दर्शन तो फिल्म के समान निरंतर परिवर्तन शील ओर अस्थायी ही है।

हम आंखे बन्द करके अभ्यास आरम्भ करते है ध्यान का तो वहां भी हमें कुछ भी दिखाई नहीं देता। अधिक अभ्यास करने पर कुछ शून्य जैसा कुछ बिन्दु जैसा दिखाई देने लगता है। किन्तु समझना होगा कि वह जो दिखाई देता है उस स्थिति में, है क्या ? क्या देखते हैं हम ? क्या हमारे भीतर शून्य अथवा बिन्दु का अस्तित्व है ?

शून्य का अर्थ है— कहीं कुछ न होना। अस्तित्व का अभाव ही शून्य कहलाता है। इसीलिये जो परमात्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते वे शून्यवादी कहलाते है। किन्तु शून्य का अर्थ बिन्दु भी है। आप एक के आगे बिन्दु लगादे तो वह दस बन जायगा। यदि दो बिन्दु लगा दे एक के आगे तो सौ और तीन बिन्दु लगादे तो हजार बनेगा। इसी प्रकार बिन्दुओं का योग उसी एक के अंक को अरबों, खरबों तक पहुँचाने में समर्थ है।

नौ अंक, एक बिन्दु—

विश्व भर के गणित का समूचा ढाँचा नौ अंकों और बिन्दु पर ही खड़ा है। जितने भी आविष्कार हुए हैं संसार में उन सभी में इनका पूरा योगदान रहा है। अकेली बिन्दु किसी भी अंक की दस गुनी शक्ति-सामर्थ्य बढ़ा देती है। बिन्दु युक्त अंक की जितनी शक्ति होती है,

बिन्दुओं के लगने से वह शक्ति क्रमशः दस-दस गुनी बढ़ती जाती हैं। यदि आप बिन्दु को हटा दें किसी अंक से तो वह अपनी नौ गुनी शक्ति खो बैठता है।

यही गणित का चक्र है। ध्यान में यह बिन्दु और भी अधिक शक्तिशाली होता है। आप इसी के ध्यान से अपनी शक्ति बढ़ाने लगते हैं। आपकी आँखें बन्द रह कर भी इसी शक्ति के बल पर भीतर के अन्वेषण में लग सकती हैं। आप जितना अधिक अभ्यास करते हैं बिन्दु का, शून्य का, उतनी ही अधिक स्थिरता बढ़ने लगती हैं चित्त में, और वही स्थिरता आपको बाह्य विषयों से विमुख कर देती है। आप इन्द्रियों के भरोसे नहीं रहते। क्योंकि अभ्यास आपको उस योग्य बना देता है।

आप जितने गहरे प्रविष्ट होते हैं शून्य में, उतने ही आनन्द का अनुभव करने लगते हैं। आपको प्रतीत होता है कि बाह्य दृष्टि में जो आनन्द नहीं था, जो सुख नहीं था, अन्तर्दृष्टि में उससे न जानें कितने गुण आनन्द की सृष्टि हुई है। किन्तु जब तक ध्यान की परिपक्वता नहीं हो पाती, तब तक आप अधिक गहरे नहीं जा सकते। आपका मन ऊपरी स्तर तक ही रहता है। नदियों में तैरने वाले जो लोग जल की ऊपरी सतह पर रहते हैं तब तक उन्हें पता नहीं रहता कि भीतर क्या है? भीतर का पता तो उसी को लगेगा जो डुबकी लगा कर खोजेगा।

आप डुबकी लगाते हैं गहरे पानी में तो शायद उस रत्न-भण्डार तक पहुंच सके, जिसे समुद्र में ही प्राप्त किया जा सकता है। खोजने वाले पानी के उस शून्य आवरण से ही सब कुछ प्राप्त कर लेते हैं।

भीतर शून्य है। उस शून्य की अन्तर्दृष्टि से देखिये। संभव है कि एक दिन वह शून्य भी विलीन हो जाय और उसमें आपको परमात्मा दिखाई देने लगे। कल्पना कीजिये कि वह क्षण कितना महत्व पूर्ण होगा आपके जीवन का जब आप शून्य में परमात्मा का दर्शन प्राप्त कर लेंगे।

तो हम कह रहे थे कि शून्य में बड़ी भारी शक्ति विद्यमान है।

गुणा करते हैं तो शून्य का सहारा लेना होता है। भाग देते हैं तो भी शून्य के महत्व को नकार नहीं सकते। शून्य के सहारे से न जानें कितने लोग हजारपत्ति से लखपति बन गये। किन्तु जिन्होंने शून्य को भूला दिया, वे अपना बहुत कुछ खो बैठे।

शून्यवादी कहते हैं कि शून्य कुछ नहीं, उससे कुछ लाभ नहीं। जो नहीं है उससे लाभ की कल्पना भी नहीं की जा सकती। वे कहते हैं कि संसार में जो कुछ दिखाई देता है, उसी का अस्तित्व है। किन्तु जो दिखाई नहीं देता उसका कोई अस्तित्व नहीं, कोई भाव नहीं। मोटे तौर पर, वे जो कुछ भी कहते हैं उसका सार यही है कि संसार में कुछ नहीं है. परमात्मा भी नहीं है।

शून्यवादी तार्किक है। उसके तर्क में उसकी दृष्टि से बहुत कुछ शक्ति है। किन्तु विद्वानों का कहना है कि तर्क से परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकते आप। क्योंकि जहाँ तर्क है वहाँ संशय अपना अस्तित्व बना लेता है। जब संशय ने अस्तित्व बना लिया तब आपके पास रह भी क्या सकता है? तराजू के दो पलड़े हैं—एक पर बाट रखिये, दूसरे पर वह वस्तु जो तोलनी है। जब तक कांटे का संतुलन सही नहीं होता, तब तक आपको वह वस्तु कभी घटानी होगी तो कभी बढ़ानी। और यह घटा-बढ़ी तब तक चलती रहेगी जब तक सुई अपने निश्चित स्थान से हटी रहेगी।

परमात्मा को प्राप्त करना है तो संशय का त्याग कीजिये। संशय जाने पर ही आप उसे प्राप्त कर सकते हैं। संशय जाये तो तर्क बुद्धि का अन्त हो और तर्क-रहित बुद्धि ही आपको आगे बढ़ा सकती है उस मार्ग में, जिसमें कोई खाई-खड्ड नही, कोई नदी-नाला नहीं, कोई टीला या पर्वत नहीं।

और तर्क-रहित बुद्धि ही आपको ध्यानावस्थित कर सकती है ठीक प्रकार से। आप ध्यान की दृढ़ता में जब शून्य से सम्पर्क करते हैं, तब

आपको उपलब्धि होती है आत्मा की, और आत्मा की उपलब्धि ही परमात्मा की उपलब्धि है। उसी से आप यह जानने में समर्थ होते हैं कि शून्य में स्थित है परमात्मा और यह जान लेते हैं तो आपका प्रवेश समाधि में भी हो सकता है सहज रूप से।



शून्यता की साधना व अनुभूतियाँ

शून्यता प्राप्ति की विभिन्न साधनाएं योग ग्रन्थों में वर्णित है परन्तु यहाँ पर निम्न अनुभूत साधनाओं का ही विवेचन किया जा रहा है। यह सभी साधनाएं शून्य की ओर ले जाने वाली हैं। इन्हें किसी भी योग्य और अनुभवी गुरु के निर्देशन में किया जा सकता है:—

१. दीर्घ ओंकार ध्वनि—

प्रातःकाल स्नान आदि से निवृत्त होकर किसी एकांत व शांत स्थान पर साधना के लिए बैठें। गुफा, मन्दिर या किसी ऐसे स्थान पर जहाँ ध्वनि की गुंज उत्पन्न हो सकती हो, अधिक उपयुक्त रहेगा। मन्दिरों में गुम्बद बनाने का उद्देश्य भी यही था कि वहाँ ध्वनि की गूंज उत्पन्न हो, वे पत्थर ध्वनि को ग्रहण करें और उससे तीव्र गति से उसे लौटाएं। वह लौटी हुई ध्वनि साधक के लिए वरदान सिद्ध होती है।

घन्टे पर चोटे मारने और छोड़ देने पर देर तक एक लम्बी ध्वनि का आभास होता रहता हैं। ऐसे ही एक पूरे श्वांस में एक बार ओकाँर का उच्चारण करना चाहिए। कम से कम २७ बार दीर्घ प्रणव की ॐ ध्वनि का उच्च स्थर से उच्चारण करना चाहिए। इसे धीरे-धीरे १०८ तक बढ़ाया जा सकता हैं। यदि गिनती में कोई व्यवधान उत्पन्न हो तो

आरम्भ में १० मिनट तक ओंकार ध्वनि करे। इसे कुछ दिनों में आधे घन्टे तक बढ़ा ले।

ध्वनि के बाद नेत्र बन्द करके शान्त बैठ जाए। किसी का ध्यान नहीं करना हैं। केवल निश्चल रूप से बैठे रहना हैं। अनुभूतियाँ स्वयं अवतरित होने लगेगी। जो भी विचार उन्हे द्रष्टा की तरह देखते रहें। विचार धीरे-धीरे तिरोहित होने लगेगे। शून्यता की ओर पग बढ़ते ही रहेगे।

२–आकाश त्राटक–

त्राटक कहते है किसी भी वस्तु को ओर टकटकी लगा कर देखते रहना को। पहने हरी-हरी अथवा नीली प्लेट पर इसका अभ्यास करना चाहिए। फिर सफेद कागज पर काली स्याही से ॐ लिख कर उसका त्राटक करे। इसके वाद आकाश का त्राटक करना उपयुक्त रहेगा।

आकाश त्राटक बैठ कर और लेट कर दोनों विधियों से किया जा सकता हैं। कुछ साधकों का अनुभव है कि लेट कर अभ्यास करने पर सुविधा रहती है और बैठने की अपेक्षा कम समय में स्थिरता आती है। आकाश की ओर टकटकी लगाकर देखना आरम्भ करे। आरम्भ में आँख झपकेगी, झपकने दीजिए। अभ्यास करने पर धीरे-धीरे स्थिरता आने लगेगी। आकाश त्राटक १० मिनट से आरम्भ करके ३ घन्टे तक किया जा सकता है।

आकाश त्राटक का सफल साधक जब पूर्ण तन्मयता और स्थिरता प्राप्त कर लेता हैं तो वह आकाश के साथ आकाश ही हो जाता हैं। आकाश शून्य है। आकाश का अर्थ है— परम् शून्यता नितांत अभाव, जो हैं ही नहीं। वह शून्य ही प्रिय है, प्रियतम है, प्यारा है, परमात्मा हैं शून्य में रमण करना ही एक मात्र ध्यान है। अतः आकाश के त्राटक से शून्य हो जाए, निर्विचार हो जाए।

३–नाद ब्रह्म ध्यान–

प्रातः काल ब्रह्ममुहूर्त में अथवा साँय काल ध्यान के लिए शांत भाव से नेत्र बन्द करके बैठे । पेट खाली रहे अन्यथा ध्यान में बाधा आएगी और नाद गहरा नही जा पायगा । कुछ खाना आवश्यक हो तो कम से कम ३ घन्टे पूर्व हल्का पेय लिया जा सकता है ।

नेत्र और मुख दोनों बन्द करके भीतर ही भीतर "हूँ" कीं लम्बी नाद ध्वनि करे । ध्वनि इस प्रकार हो कि उसकी लय और ताल न टूटे। सुविधानुसार उसे ऊँचा-नीचा भी किया जा सकता है । १०-१५ मिनट से आरम्भ करके ध्वनि को आधे घन्टे तक बढ़ाऐ । ध्वनि के बाद नेत्र बन्द करके शान्त भाव से बैठे रहें । उच्च अभ्यास होने पर मन लय होने की स्थिति में आ जाता है, विचार शून्य होने कीं प्रक्रिया आरम्भ होने लगती है । वह भी धन्य घड़ी आती है जव पूर्ण शून्यता की उपलब्धि होती है ।

४–लम्बे गहरे श्वांस –

किसी भी सुविधाजनक आसन पर बैठ कर शरीर को एक दम ढीला छोड़ दे क्योंकि तनाव रहने पर तो कोई भी क्रिया स्वतन्त्रता पूर्वक नही हो सकती । और जब तक उसे क्रिया कीं स्वतन्त्रता न मिलेगी, तब तक कोई भी उपलब्धि सम्भव नही । अब लम्बे और गहरे श्वाँस ले । श्वांस गहरी होनी चाहिए । अधिक से अधिक गहरी श्वाँस ले और छोड़े । अभिप्राय यह है कि श्वाँस निःश्वास के गहरी होने में पूरी शक्ति लगा दी जाय क्योंकि आन्तरिक ऊर्जा का जागरण अधिकतम गहरी श्वांस पर ही निर्भर है । मन और शरीर जिधर जाए, जाने दे । उनके कार्य में अवरोध उपस्थित न करे । रोने, हँसने, लेटने, बैठने, चलने आदि की पूर्ण सुविधा उसे दे । आपका ध्यान केवल गहरे श्वास-

नि:श्वास पर रहना चाहिए। पूरी शक्ति लगाकर गहरी श्वांस ले और उसी शक्ति के साथ श्वांस को छोड़े। इस ध्यान में विचार शून्य होने लगते है और समाधि अवस्था आ जाती हैं।

५—श्वांस-प्रश्वास ध्यान—

शौचादि से निवृत होकर और सब प्रकार से शुद्ध होकर शरीर पर कम से कम तथा ढीले वस्त्र धारण करे। किसी भी सुखद स्थिति में आसन पर बैठ जाए। इस प्रक्रिया में श्वांस-प्रश्वास की गति पर मन को स्थिर करना होता हैं। मेरुदण्ड को सींधा रखे हुए बैठे और फिर अभ्यास को आरम्भ करे। श्वांस और प्रश्वांस दोनों की ही गति पर ध्यान रखे कि श्वांस शरीर के भीतरी भाग से, कहां से उठा, किस प्रकार उठा और किस प्रकार शरीर से बाहर निकला। श्वांस लेते समय भी इसका सूक्ष्म निरीक्षण करे कि श्वांस किस प्रकार शरीर से बाहर निकला ? श्वांस लेते समय भी इसका सूक्ष्म निरीक्षण करे कि श्वांस किस प्रकार बाहर से भीतर घुसा और फिर किस भाग तक पहुँचा। इस समस्त प्रक्रिया का सूक्ष्म अन्वेषण इस साधना का प्रमुख अंग है।

सार यह है कि श्वांस जिधर भी जाता हैं, उस पर ध्यान केन्द्रित होना चाहिए। जितने प्रकार के भी ध्यान योग ग्रन्थों में वर्णित किए गए है, उन सबसे सरलतम है क्योंकि साधक को और कुछ करना नही है, केवल श्वांस पर ही अर्न्तदृष्टि रखनी है। इस ध्यान के अद्‌भुत परिणाम और अनुभूतियां होती है। मानसिक शान्ति की उपलब्धि तो इसकी सहज प्रक्रिया है।

अनुभूतियां

उपरोक्त साधनों में से अपनी रुचि और सुविधा के अनुसार किसी भी साधना को अपनायी जा सकता है। सभी के परिणाम लगभग

समान है । इन सभी साधनाओं से शून्य की ओर बढ़ा जा सकता हैं ।

साधना से जब एकाग्रता और स्थिरता बढ़ती है तो मन की स्वाभाविक उछल कूद कम होने लगती हैं । श्वांस धीरे-धीरे धीमा होने लगता हैं । कभी-कभी तो साधक को यह भी आभास होने लगता है कि कुछ ही क्षणों में श्वांस बन्द हो जायगी । मन की गति में अवरोध आने लगता हैं । ऐसा लगता है कि मन ठहर गया है । उसकी सारी गतियां स्थागित हो गई है । बातावरण अत्यन्त पवित्र, सात्विक और शान्त हो जाता हैं । कोई भी सांसारिक विचार नही आ पाता ।

मन की स्वाभाविक उछल कूद, चंचलता और अस्थिरता तभी तक रहती है जब तक मन में कम्पन होते रहते है क्योंकि मन कम्पनों के साथ विचारों के आने के प्रवेश द्वार-छिद्र बनते रहते हैं । जब मन में कम्पन बन्द हो जाती है, वो छिद्र भी नही रहते, विचारों का प्रवेश नही हो पाता निर्विचार स्थिति आती है । यही शून्य दशा है ।

मन में जब तक कम्पन उत्पन्न होते रहते है, तब तक द्वैत की ही अनुभूति होती है परन्तु जब यह कम्पन बन्द होते है तो द्वैत नही रह पाता, सब ओर एक ही भासने लगता है । विचार एक कम्पन है । जब तक इनका आगमन रहता है, द्वैत बना ही रहता है, निर्विचार स्थिति आते ही मन एक ही दृष्टिगोचर होने लगता है । विचार एक लहर है । मन रूपी समुद्र में जब तक लहरे चलती रहती है तो दो ही दिखाई देगे परन्तु लहरों में विलीन होते ही एक ही शेष रह जाएगा । निर्विचार और अकम्प स्थिति में जब एक शून्य ही शेष रहता हैं तो इस शून्य समाधि को अवस्था कहते है ।

साधना की सफलता का चिन्ह है- श्वांस का शान्त, शिथिल और शून्य होंना । यहीं पर रुकना नही है । विचारों को भी शिथिल और शून्य बनाना है तभी ईश्वर दर्शन की सम्भावना हो सकती है । जगत के हर कण में परमात्मा का निवास है । इसे सर्वत्र स्वीकार किया जाता

है परन्तु इसकी अनुभूति किसी विरले सौभाग्यवान को ही होती है। कण-कण में ईश्वर की अनुभूति वही कर सकता है जो निर्विचार और विचार शून्य हो गया है। जिस साधक के तीसरे नेत्र का जागरण हो जाता है, वही गहरे में देखने की क्षमता रखता है। वह जब पेड़ को देखता है तो उसकी स्थूल आकृति के साथ उसकी प्राण सत्ता की गहराई को भी नाप लेता है। ऐसा साधक जब किसी प्राणी को देखता है तो उसके शरीर में व्याप्त आत्मा के भी दर्शन होते हैं। परमात्मा का ऐसा महान अनुग्रह उस सौभाग्यवान साधक को ही प्राप्त होना सम्भव है जिसका चित्त निर्विचार और शान्त हो जाता हैं जहां विचार की लहरे प्रवाहित होना बन्द हो जाता है। उसे स्वच्छ और निर्मल दृष्टि प्राप्त होती है तभी वह विश्व के कण-कण में ईश्वरीय अनुभूतियों के दर्शन करता हैं।

निर्विचार स्थिति का आना साधना का सहज परिणाम नहीं है। यह लम्बी साधना के बाद ही आ पाती है। इसके लिए साधना के समय साक्षी भाव का रखना आवश्यक होता है। इसी से विचारों की श्रृङ्खला टूटनी आरम्भ होती है। मन के छिद्र बन्द होते है। ऐसा लगता हैं कि बीच में एक सुदृढ़ दीवार खड़ी हो गई है जो विचारों के आगमन को रोक रही है। साक्षी भाव का अभिप्राय है देखते रहना। देखते रहने से विचार शून्य होने लगते है। यह दृष्टि जितनी गहन होगी, उतनी ही विचार शून्यता बढ़ती जाएगी, इस विचार शून्यता में जिसके दर्शन होते है, उसे ही सत्य के दर्शन अथवा आत्म दर्शन कहा गया है।

जब निर्विचार स्थिति आती है, तभी परमात्मा का साक्षात्कार होता है। तब इस स्थूल संसार में पदार्थ दिखाई नही देता, कण-कण में, हर वस्तु में, चारों ओर परमात्मा ही दिखाई देता है। परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ भी दृष्टिगोचर ही नही होता। जब ऐसी निर्मल दृष्टि प्राप्त हो जाती है और सभी प्राणियों में उस एक ही परमात्म

सत्ता का आभास होने लगता है, तो आनन्द का स्रोत खुल जाता हैं। उसका प्रवाह अबाध गति से प्रस्फुटित होने लगता है। जब चारों ओर, सृष्टि के कण कण में सभी प्राणियों में ईश्वर की अनुभूति होने लगती है तो बाहरी नेत्रों से दिखाई देने वाली भिन्नता का नाश हो जाता हैं, द्वैत विलीन हो जाता है, अद्वैत के दर्शन होते हैं, सारे जगत में एकता की अनुभूति होती हैं। इस स्थिति में साधक की समस्त गतिविधियाँ आनन्द से भर जाती है। आनन्द की इस चरम अनुभूति को ही परमात्म दर्शन कहा गया है। यह तभी प्राप्त होता हैं जब साक्षी भाव में स्थित रह कर पूर्ण विचार शून्यता की उच्चतम स्थिति आती है।

समाप्त

अ. भा. ओंकार परिवार की स्थापना

—×—

ॐ परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ व स्वाभाविक नाम है। इसे मन्त्र शिरोमणि, मन्त्र सम्राट, मन्त्र राज, बीजमन्त्र और मन्त्रों का सेतु आदि उपाधियों से विभूषित किया जाता है। इसे श्रेष्ठतम् महानतम और पवित्रतम् मन्त्र की संज्ञा भी दी जाती है। सारे विश्व में इसकी तुलना का कोई मन्त्र नहीं है। ॐ सभी मन्त्रों को अपनी शक्ति से भावित करता है। सभी मन्त्रों की शक्ति ओंकार की ही शक्ति है। यह शक्ति और सिद्धिदाता हैं। भौतिक व आत्मिक उत्थान के लिए कोई भी दूसरी श्रेष्ठ व सरल साधना नहीं है।

सभी ऋषिमुनि ॐ की शक्ति और साधना से ही अपना आत्मिक उत्थान करते रहे हैं। परन्तु आज आश्चर्य है कि ॐ का अन्य मन्त्रों की तरह व्यापक प्रचार नहीं है। इस कमी का अनुभव करते हुए अ० भा० ओंकार परिवार की स्थापना की गई है। आप भी अपने यहाँ इसका एक प्रचार केन्द्र स्थापित करें। शाखा स्थापना का सारा साहित्य निःशुल्क रूप से प्रधान कार्यालय, बरेली से मँगवा लें, आपको केवल इतना करना है कि स्वयं ओंकारोपासना आरम्भ करके ४ अन्य मित्रों व सम्बधिन्यों को प्रेरित करें और सभी संकल्प पत्र व शाखा स्थापना का प्रार्थना पत्र प्रधान कार्यालय को भिजवा दें। इस वर्ष २७००० साधकों द्वारा ९०० करोड़ मन्त्रों के जप का महापुरश्चरण पूर्ण किया जाना है। आशा है ओंकार को जन-जन का मन्त्र बनाने के इस श्रेष्ठतम् आध्यात्मिक महायज्ञ में सम्मिलित होकर महान् पुण्य के भागी बनेंगे।

विनीत :

चमनलाल गौतम

संस्कृति संस्थान

ख्वाजाकुतुब, वेदनगर, बरेली–२४३००३ (उ. प्र.)

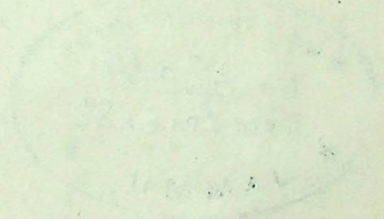
एक मौन व्यक्तित्व का मौन समर्पण

—x—

डा० चमनलाल गौतम एक व्यक्ति नहीं वरन् ऐसे विशाल धार्मिक संस्थान का नाम है जो सतत् २४ वर्षों से ऋषि प्रणीत आर्य साहित्य के शोध, प्रकाशन और व्यापक साहित्य प्रचार का कार्य देश विदेश में करता रहा है। यह उनकी तप साधना का ही परिणाम है कि किसी भी आर्थिक सहयोग के बिना वेद, उपनिषद्, दर्शन, स्मृतियां, पुराण व मन्त्र-तन्त्र, आदि साधनात्मक साहित्य की ३०० से अधिक पुस्तकों को प्रकाशित करके घर-घर में पहुँचाने की पवित्रतम साधना कर रहे हैं। मन्त्र-तन्त्र, योग, वेदान्त व अन्य धार्मिक विषयों पर १५० खोज पूर्ण ग्रन्थों का लेखन, सम्पादन एक ऐसा अविस्मरणीय व असाधारण कार्य है जिस पर उनके अथक श्रम, गम्भीर अध्ययन, तप, प्रतिभा और मौलिक सूझ-बूझ की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। स्वस्थ साहित्य की रचना और प्रचार का उनकी जीवन योजना का यह पहला चरण पूरा हुआ है।

पिछले २४ वर्षों से लगातार चल रही अध्यात्मिक साधना के महापुरश्चरण का दूसरा चरण भी समाप्त हो रहा है। तीसरे चरण-आध्यात्मिक साधनाओं और अनुभूतियों के विश्वव्यापी विस्तार का शुभारम्भ अ० भा० ओंकार परिवार की स्थापना के साथ बसन्तपञ्चमी की परम पवित्र बेला के साथ हो गया है। अतः उनका शेष जीवन तीसरे चरण की सफलता, ओंकार परिवार की शाखाओं के व्यापक विस्तार के माध्यम से करोड़ों व्यक्तियों को ओंकार साधना में प्रविष्ट करके उच्च आध्यात्मिक भूमिका में प्रशस्त करना. ओंकार अथवा उच्च आध्यात्मिक साहित्य की रचना व प्रचार-प्रसार को समर्पित है।

–स्वामी सत्य भक्त




Ved Mandir Library
No. 820/H
Date 20.1.8.82
JAMMU.

योग साहित्य

१—योग चिकित्सा २ खण्ड		....	
२—योग और [illegible]		....	
३—योग और [illegible]		....	
४—योग और [illegible]		....	
५—योग के चमत्कार		....	
६—प्राणायाम के असाधारण प्रयोग		....	
७—योगासन से रोग निवारण		....	
८—सूर्य नमस्कार से रोगनिवारण		....	
९—अष्टांग योग सिद्धि		....	७)
१०—अष्टांग योग रहस्य		....	७)
११—योग साधना	(भा० टी०)	....	६)
१२—हठयोग प्रदीपिका	(भा० टी०)	....	५)
१३—घेरण्ड संहिता	(भा० टी०)	....	५)७५
१४—शिव संहिता	(भा० टी०)	....	४)५०
१५—गोरक्ष संहिता	(भा० टी०)	....	३)७५
१६—बृहत् शिव स्वरोदय	(भा० टी०)	....	४)५०
१७—भक्ति योग		....	५)७५
१८—कर्म योग		....	४)५०
१९—हिप्नोटिज्म (सम्मोहन विज्ञान)		....	५)५०
२०—भारत के योगी		....	४)५०
२१—गायत्री द्वारा योग साधना		....	३)७५
२२—श्री गोरख नाथ चरित्र		....	३)
२३—योग महाविज्ञान			१२)
२४—कुण्डलिनी जागरण		....	५)५०
२५—ध्यान की सरल साधनाएं		....	६)
२६—ध्यान के गहरे प्रयोग		....	६)५०
नाद योग		....	५)

प्रकाशक :